शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

# आत्मधर्म

: संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील

फरवरी : १९६० ☆ वर्ष पन्द्रहवाँ, माघ, वीर नि०सं० २४८६ ☆ अंक : १०

## पुरुषार्थ

इस अत्यन्त दीर्घ, सदैव उत्पादमय संसार-मार्ग में किसी भी प्रकार जिनेश्वरदेव के इस तीक्ष्ण असिधारा समान उपदेश को प्राप्त करके, जो मोह-राग-द्वेष पर अत्यन्त दृढ़रूप से उसका प्रहार करता है, वही क्षिप्रमेव (शीघ्र-तुरन्त ही) समस्त दुःखों से परिमुक्त होता है; अन्य कोई व्यापार समस्त दुःखों से परिमुक्त नहीं करता;—हाथ में तलवार धारण करनेवाले मनुष्य की भाँति।

—इसलिये सर्व आरम्भ से—सर्व यत्न से—मोह का क्षय करने के लिये मैं पुरुषार्थ का आश्रय करता हूँ। [अमृतचन्द्राचार्यदेव]

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

[ १७८ ]

एक अंक चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ ( सौराष्ट्र )

# सिद्धों के सुख का स्वीकार

अहा! सिद्ध भगवन्त विषयातीत अतीन्द्रिय आत्मिक सुख का अनुभव करते हैं।

इन्द्रियों के ओर की वृत्ति में या इन्द्रिय विषयों में जो जीव सुख मानता है वह मुक्ति के विषयातीत अतीन्द्रिय सुख का स्वीकार नहीं कर सकता।

—और—

''केवली भगवन्तों को इन्द्रियों बिना ही आत्मा का अतीन्द्रियसुख है;''—ऐसा जो जीव स्वीकार करता है, वह जीव इन्द्रियविषयों में कभी सुख नहीं मानता।

इन्द्रियविषयों के सन्मुख रहकर सिद्धों के अतीन्द्रियसुख का वास्तविक स्वीकार नहीं हो सकता।

अतीन्द्रियस्वभाव के सन्मुख होकर, अतीन्द्रियसुख के अंश का स्वाद चखकर ही सिद्धों के अतीन्द्रियसुख का यथार्थ स्वीकार होता है; और इसप्रकार जो सिद्ध भगवन्तों के अतीन्द्रियसुख का आनन्द से स्वीकार करता है, वह असन्नभव्य है अर्थात् निकट मोक्षगामी है।

# आत्मधर्म

: संपादक : **रामजी माणेकचंद दोशी** वकील

फरवरी : १९६० ☆ वर्ष पन्द्रहवाँ, माघ, वीर नि०सं० २४८६ ☆ अंक : १०


## परम शांतिदायिनी
## अध्यात्म-भावना

**भगवान श्री पूज्यपाद स्वामी रचित 'समाधिशतक' पर**
**परम पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के**
**अध्यात्म भरपूर वैराग्य प्रेरक**
**प्रवचनों का सार**

**( वीर सं० २४८२, अषाढ़ कृष्णा प्रतिपदा; समाधिशतक गाथा २९ )**

ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को जानकर बारम्बार उसी की भावना करने से आत्मा परमपद को प्राप्त होता है, इसलिये वह भावना करनेयोग्य है—ऐसा कहा। वहाँ कोई **प्रश्न** करता है कि प्रभो! जैसी आपने कही है, वैसी भावना तो कठिन-कष्टदायक प्रतीत होती है, और बाह्य पदार्थों की भावना सरल लगती है।—इसप्रकार आत्मा की भावना तो भयस्थान और बाह्य विषय निर्भय प्रतीत होते हैं; तो फिर आत्मा में प्रवृत्ति कैसे हो? उसे आचार्यदेव **उत्तर** देते हैं कि अरे जीव! जहाँ तू कष्ट और भय मानता है, ऐसे तेरे चैतन्यपद के समान अन्य कोई स्थान निर्भय एवं इष्ट नहीं है; और बाह्य पदार्थों को तू निर्भयता का कारण मानता है, किन्तु उन जैसा भयस्थान अन्य कोई नहीं है—

**मूढ़ात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद्भयास्पदम्।**
**यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः ॥२९॥**

अरे मूढ़ जीव! चैतन्य को चूककर तू बाह्य में शरीर, लक्ष्मी, कुटुम्बादि को अभयस्थान मानकर विश्वास कर रहा है, वे तो भयस्थान हैं; बाह्य में तुझे कोई शरणभूत नहीं है। अंतर में

चैतन्यस्वभाव ही परम शरण है; उसे भयस्थान मानकर तू उससे दूर भागता है, किन्तु अरे मूढ़! तेरे आत्मा समान अभयस्थान जगत में दूसरा कोई नहीं है।

अरे! तेरा चैतन्यतत्त्व भय का स्थान नहीं है, वह आकुलता का—दु:ख का स्थान नहीं है; तेरा चैतन्यतत्त्व अभयपद का स्थान है... शांतिस्वरूप है... आनन्द का धाम है।—ऐसे आत्मतत्त्व के अतिरिक्त बाह्य में कोई वस्तु तुझे शरणभूत नहीं है, तेरे लिये अन्य कोई निर्भयता का स्थान नहीं है। अरे! ऐसा भगवान आत्मा अभयस्थान होने पर भी, मूढ़ जीव उससे डरते हैं—उसकी रुचि नहीं किन्तु खेद करते हैं; परिणाम में चंचलता और सन्देह करते हैं, वही भय है। बाह्य में शरीर, कुटुम्ब, लक्ष्मी आदि में सुख मानकर नि:शंकरूप से भयरहित वर्तते हैं, किन्तु उनमें कहीं सुख नहीं है, वे कोई शरण के स्थान नहीं हैं। एक चैतन्यपद ही अभय है... वही शरण का स्थान है... इसलिये निर्भयरूप से उसमें प्रवर्तन करो—ऐसा 'स्वामी' का उपदेश है।

चैतन्यस्वभाव के प्रति रुचि उत्पन्न नहीं करता और बाह्य में रुचि लाकर वर्तता है; उसे चैतन्य का डर लगता है। जिसे भय का स्थान माने, उसमें कैसे वर्तेगा? और जिसे अभयस्थान मानता हो, उसे क्यों छोड़ेगा? अज्ञानी को चैतन्यस्वभाव का विश्वास नहीं आता, इसलिये नि:शंकरूप से उसमें उल्लास नहीं करता। उससे दूर भागकर विषयों के समीप उल्लासपूर्वक जाता है... उनमें सुख का विश्वास करता है... जिसप्रकार मृग मृगजल के पीछे दौड़ता है; उसीप्रकार वह विषयों की ओर दौड़ता है... बाह्य विषयों को शरण मानकर उनके पीछे आतुरता से दौड़ता है और आकुलता से दु:खी होता है। जहाँ सुख की सत्ता विद्यमान है—ऐसे अपने आत्मा का विश्वास नहीं करता, उसमें आस्था नहीं रखता, वहाँ तो नास्तिक बन जाता है; और बाह्य में सुख न होने पर भी, वहाँ सुख मानकर दौड़ता है। जिसप्रकार—जिस मनुष्य को विषैले सर्प ने काटा हो, वह कड़वे नीम को भी प्रेम से चबा लेता है; उसीप्रकार जिसे मिथ्यात्वरूपी काले सर्प का विष चढ़ा है, वह जीव, दु:खदायक इन्द्रिय-विषयों को भी सुखदायक मानकर उनकी ओर दौड़ता है। इन्द्रिय-विषय तो एकान्त भय के—दु:ख के स्थान हैं और यह अतीन्द्रिय चिदानन्दस्वरूप आत्मा ही अभयस्थान एवं सुख का धाम है। चैतन्योन्मुखता में आनन्दरस का अनुभव होता है; इसलिये तू अपने शुद्ध चैतन्यपद का अनुभव कर—ऐसा संतों का उपदेश है।

समयसार में भी आचार्यदेव ने शुद्ध आत्मा के अनुभव का ही उपदेश दिया है। वहाँ शिष्य **प्रश्न** करता है कि—प्रभो! आप प्रथम से ही शुद्ध आत्मा के अवलम्बन का उपदेश देते हैं, परन्तु वह तो कष्टदायक प्रतीत होता है; कोई व्यवहार का अवलम्बन बतलाइये! **तब आचार्यदेव कहते**

हैं कि अरे भाई! व्यवहार के (शुभराग के) अवलम्बन में तेरा हित नहीं है, उसमें तो मात्र दुःख ही है; और चैतन्यतत्त्व आनन्द का सागर है, उसमें सुख है; इसलिये शुद्धनय द्वारा उसी के अनुभव का उद्यम कर; वहीं से हित का प्रारम्भ होता है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, आत्मा के लिये हितकारी हैं, तथापि अज्ञानी उन्हें अहितकर-कष्टरूप मानते हैं और विषय-कषाय, आत्मा के लिये अहितकर हैं, तथापि अज्ञानी उनमें हित मानकर वर्तते हैं।

'छहढाला' में कहते हैं कि—

**'रागादि प्रगट जे दुःखदेन, तिनहीं को सेवत गिनत चैन।'**

**'आतमहित-हेतु विराग ज्ञान, ते लखे आपको कष्ट दान।'**

देखो, यह अज्ञानी के लक्षण! रागादि विभाव दुःखरूप होने पर भी, मूढ़ता से उन्हें सुखरूप मानकर उनका सेवन करता है और ज्ञान-वैराग्य, आत्मा के हित का हेतु होने पर भी, मूढ़ जीव उन्हें कष्टदायक मानता है। आत्मज्ञान को कष्टदायक समझकर उससे दूर भागता है और रागादि को सुखदायी मानकर उनकी ओर रुचिपूर्वक दौड़ता है। यह कैसी मूढ़ता है!! अज्ञानी जीवों की ऐसी प्रवृत्ति के लिये श्रीमद् राजचन्द्रजी करुणापूर्वक कहते हैं कि अरे जीव!—

**''अनंत सुख नाम दुःख, त्यां रही न मित्रता,**
**अनंत दुःख नाम सुख, प्रेम त्यां विचित्रता!**
**उघाड़ न्याय नेत्रने, निहाल रे! निहाल तुं,**
**निवृत्ति शीघ्रमेव धारी, ते प्रवृत्ति बाल तुं।''**

अहा, जो अनंत सुख का धाम है, ऐसे चैतन्यस्वभाव में तो तुझे मित्रता नहीं रही—उसमें उत्साह और प्रेम नहीं आया; तथा अनंत दुःख के धाम ऐसे जो बाह्यविषय, उनमें तुझे प्रेम-उत्साह आया; यह कैसी विचित्रता है!! अरे जीव! अब अपने ज्ञानचक्षुओं को खोल! भाई, तेरा स्वभाव दुःखरूप नहीं है, उस स्वभाव के साधन में किंचित् कष्ट नहीं है और बाह्य विषयों की ओर की वृत्ति एकान्त दुःखरूप है, उसमें स्वप्न में भी सुख नहीं है।—इसप्रकार विवेकपूर्वक विचार करके अपने अंतरस्वभाव की ओर उन्मुख हो और बाह्य विषयों में सुखबुद्धि छोड़कर उनसे निवृत्त हो। नित्य निर्भयस्थान एवं सुख का धाम तो तेरा आत्मा ही है—

**'सुखधाम अनंत सुसंत चही, दिनरात रहें तद् ध्यानमंही;'**

अनंत सुख का धाम ऐसा जो चैतन्यपद, उसे चाहनेवाले संत दिन-रात उसके ध्यान में रहते

हैं; इसलिये हे जीव! तू अपने चैतन्यपद का विश्वास करके, जगत में मेरा चैतन्यपद ही सुख का धाम है—ऐसा दृढ़ विश्वास करके निर्भयरूप से स्वभावोन्मुख हो... स्वभाव के निकट जाने से तुझे स्वयं को खबर पड़ेगी कि अहा! यह तो महा आनन्द का धाम है; इसकी साधना में कष्ट नहीं है, किन्तु वह तो कष्टक्षय का उपाय है.. यही मेरा निर्भय पद है।

चैतन्यस्वभाव में भीतर प्रवेश न करे, अरे! उसके निकट भी न आये और यों ही दूर से कष्टरूप मानकर उससे दूर भागे तथा विषयों की ओर दौड़े तो ऐसे मूढ़ जीव की चैतन्यध्यान में प्रवृत्ति कहाँ से होगी? इसलिये आचार्यदेव करुणापूर्वक समझाते हैं कि अरे जीव! जिनमें तू सुख मान रहा है, ऐसे इन्द्रियविषयों के समान अन्य कोई भयस्थान नहीं है; और जिसमें तू कष्ट मान रहा है, ऐसी परमात्मभावना के अतिरिक्त कोई अभयस्थान नहीं है। भवदुःखों से तेरी रक्षा करे, ऐसा कोई अभयस्थान इस जगत में हो तो वह तेरा परमात्मतत्त्व ही है; इसलिये उसकी भावना में उद्यत हो।

जैसे—किसी को विषैले सर्प ने काटा हो और विष चढ़ा हो, तो वह कड़वा नीम भी प्रेम से चबा लेता है; उसीप्रकार जिसे मिथ्यारुचिरूपी विष चढ़ा है, वह जीव दुःखदायी ऐसे विषय-कषायों को सुखदायी समझकर उसमें संलग्न रहता है। पुनश्च, जिसप्रकार पित्तज्वरवाले रोगी को मीठा दूध भी कड़वा लगता है; उसीप्रकार जिसे विपरीत रुचि का रोग लागू हुआ है, ऐसे बहिरात्मा को परम सुखदायक ऐसी आत्मस्वरूप की भावना भी कष्टरूप प्रतीत होती है।—ऐसी विपरीत बुद्धि के कारण ही अज्ञानी जीव, आत्मस्वरूप की भावना नहीं भाता, किन्तु विषय-कषाय की ही भावना भाता है। संत-मुनि जहाँ आत्मस्वरूप की भावना की बात कहते हैं, वहाँ—'अरे! यह हम से कैसे हो सकता है? आत्मा का ज्ञान हमें कहाँ से होगा?'—इसप्रकार भड़ककर भयभीत हो जाता है। अपने से यह हो ही नहीं सकता—ऐसा मानकर उसमें निरुत्साही रहता है और बाह्य विषयों में ही उत्साहरूप वर्तता है; इसीलिये जीव अनादि काल से दुःखी हो रहा है। वास्तव में इस जीव को अपने परमात्मतत्त्व की भावना के समान जगत में अन्य कोई तत्त्व सुखदायी नहीं है; इसलिये वह भावना ही कर्तव्य है।

जिसप्रकार-पहली बार राजदरबार में राजा के निकट जानेवाले को अपरिचितपने के कारण किंचित् क्षोभ या भय मालूम होता है; किन्तु जिसे बारम्बार राजा का परिचय हो गया है, उसे राजा के निकट जाने में क्षोभ या भय नहीं होता, किन्तु हर्ष होता है; उसीप्रकार चैतन्यराजा के दरबार में पहली बार आत्मानुभव का प्रयत्न करनेवाले को अनभिज्ञता के कारण कुछ कष्ट जैसा

लगता है, किन्तु रुचिपूर्वक बारम्बार चैतन्यराजा का परिचय करने पर वह सुगम-सहज एवं आनन्दरूप प्रतीत होता है... और बारम्बार चैतन्यतत्त्व की भावना करके उसी में तल्लीन रहना चाहता है; इसलिये चैतन्यतत्त्व की भावना वास्तव में कष्टरूप नहीं है, किन्तु आनन्दरूप है।—ऐसा विश्वास लाकर, हे जीव! तू बारम्बार उसकी भावना कर।

अरे! अभी तक अपने सुख को भूलकर तूने पर में सुख माना है... तू भ्रमणा से भूलकर दु:खी हुआ है। अरे! स्व-पद दुर्गम (कठिन) और पर-पद सुगम—ऐसा मानकर तूने स्व-पद की अरुचि की... और पर-पद को अपना बनाने का व्यर्थ परिश्रम करके दु:खी हुआ। न तो परवस्तु कभी आत्मा की हुई है और न होती है। यह चैतन्य ही तेरा स्व-पद है, वही तुझे शरण है; किन्तु तूने कभी अपने चैतन्य की शरण नहीं ली; इसलिये अरे जीव! अपने निर्भय चैतन्यपद को जानकर उसमें नि:शंकरूप से एकाग्र हो। परवस्तुएँ और रागादि तो अपद हैं-अपद हैं! यह शुद्ध चैतन्य ही तेरा स्वपद है-स्वपद है! धर्मी जानता है कि जगत की चाहे जैसी प्रतिकूलता, वह कहीं भयस्थान नहीं है। मेरा चैतन्यस्वरूप अभय है। मैं नि:शंकरूप से चैतन्य में वर्तता हूँ; उसमें मुझे कोई संयोग भय उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है; मेरे चैतन्यदुर्ग में परसंयोगों का प्रवेश ही नहीं है; फिर भय किसका? अज्ञानी बाह्य संयोग में शरण मानकर—निर्भयता मानकर उसमें वर्तते हैं; किन्तु वह तो सचमुच भय का स्थान है। जिन्हें शरणभूत माना है, वे संयोग एक क्षण में दूर हो जायेंगे.... जिन माता-पिता या पुत्र को शरणभूत माना है, वे एक क्षण में न जाने कहाँ उड़ जायेंगे....लक्ष्मी और शरीर कहीं चले जायेंगे... इसलिये उनमें कहीं भी अभयस्थान नहीं है। जगत के किसी भी पदार्थ का संयोग ऐसा ध्रुव नहीं है कि जो शरणभूत हो सके! अरे, संयोग की ओर वर्तता हुआ तेरा ज्ञान भी एक क्षण में पलट जायेगा; उसमें भी तेरी शरण नहीं है; एक आतमराम ही तुझे शरणभूत है; उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके उसी में रमणता कर! वही अभयस्थान है ॥२९॥

अब शिष्य पूछेगा कि—हे नाथ! ऐसे अभयस्वरूप आत्मा की प्राप्ति का क्या उपाय है?—

**''आतमराम अविनाशी आव्यो एकलो....**
**ज्ञान अने दरशन छे तारुं रूप जो....**
**बहिरभावो ते स्पर्शे नहि आत्मने,**
**खरेखरो अे ज्ञायक वीर गणाय जो...''**

# मथुरा में सप्तर्षि मुनि भगवन्त

सोनगढ़ जिनमन्दिर के एक चित्र में मथुरानगरी में सात मुनि भगवन्तों (सप्तर्षि) के आगमन का अत्यन्त भाववाही दृश्य है... एक साथ सात वीतरागी मुनिवरों को देखकर भक्त हृदय प्रफुल्लित होते हैं और सहज ही उस चित्र की कथा जानने की उत्कंठा जागृत होती है... पद्मपुराण में से यहाँ वह कथा दी गई है। आज भी मथुरानगरी के जिनमन्दिर में सप्तर्षि मुनिवरों की प्रतिमाजी विराजमान हैं....

राम-लक्षण आदि लंका को जीतकर अयोध्या लौटे और उनका राज्याभिषेक हुआ। तत्पश्चात् अत्यन्त प्रीतिपूर्वक उन्होंने अपने लघुभ्राता शत्रुघ्न से कहा कि—बन्धु! तुम्हें जो देश पसन्द हो वह लो; यदि अयोध्या चाहते हो तो आधी अयोध्या ले लो; अथवा राजगृही, पोदनापुर आदि अनेक राजधानियों में से जो तुम्हें पसन्द हो वहाँ राज्य करो।

तब शत्रुघ्न ने कहा कि—मुझे मथुरा का राज्य दीजिये।

रामचन्द्रजी ने कहा कि—हे भ्राता! मथुरा नगरी में तो राजा मधु का राज्य है; वह रावण का दामाद और अनेक युद्धों में विजय प्राप्त करनेवाला है; चमरेन्द्र ने उसे त्रिशूलरत्न दिया है और उसका पुत्र लवणसागर भी महा शूरवीर है; उन दोनों पिता-पुत्र को जीतना कठिन है; इसलिये मथुरा को छोड़कर दूसरा जो भी राज्य तुम्हें अच्छा लगे, वह लो।

शत्रुघ्न ने कहा : मुझे तो मथुरा ही दीजिये; मैं राजा मधु को युद्ध में मधु के छत्ते की भाँति गिरा दूँगा। ऐसा कहकर शत्रुघ्न मथुरा जाने को तैयार हो गये।

तब रामचन्दजी ने उनसे कहा कि—भाई, तुम मुझे एक वचन देते जाओ।

शत्रुघ्न ने कहा—बन्धु! आप तो मेरे सर्वस्व हैं, प्राण हैं; राजा मधु के साथ युद्ध छोड़ने के अतिरिक्त आप जो भी कहें, वह कर सकता हूँ।

राम ने कहा — हे वत्स! तुम मधु के साथ युद्ध करो तो उस समय करना जब उसके हाथ में त्रिशूल न हो।

शत्रुघ्न ने कहा—मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।

तत्पश्चात् जिनदेव की पूजा करके तथा सिद्धों को नमस्कार करके माता के पास आकर शत्रुघ्न ने विदा माँगी; तब माता ने कहा कि हे वत्स! तुम्हारी विजय हो! तुम्हारी विजय के पश्चात् मैं जिनेन्द्रदेव की महापूजा कराऊँगी; स्वयं मंगलरूप और तीन लोक के मंगलकर्ता श्री जिनेदव तुम्हारा मंगल करें; सर्वज्ञ भगवान के प्रसाद से तुम्हारी विजय हो; सिद्ध भगवान तुम्हें सिद्धिकर्ता हों; आचार्य, उपाध्याय तथा साधु परमेष्ठी तुम्हारे विघ्न हरें और कल्याण करें।—ऐसा कहकर मंगलकारी माता ने आशीर्वाद दिया, उसे शिरोधार्य करके शत्रुघ्न ने माता को नमस्कार किया और वहाँ से मथुरा की ओर प्रस्थान किया। लक्ष्मणजी ने उन्हें समुद्रावर्त नामक धनुष देकर कृतान्तवक्र सेनापति को उनके साथ भेजा।

शत्रुघ्न सेनासहित मथुरा के निकट आ पहुँचे और यमुना नदी के किनारे पड़ाव डाला। वहाँ मंत्री चिन्ता करेन लगे कि राजा मधु तो महान योद्धा है और यह शत्रुघ्न बालक है; यह शत्रु को किस प्रकार जीत सकेंगे? तब कृतान्तवक्र सेनापति ने कहा कि—अरे मंत्री! आप साहस छोड़कर ऐसे कायरता के वचन क्यों निकाल रहे हैं? जिसप्रकार हाथी महा बलवान है और सूँढ़ द्वारा बड़े-बड़े वृक्षों को उखाड़ फैंकता है, तथापि सिंह उसे पराजित कर देता है; उसीप्रकार मधुराजा महा बलवान होने पर भी शत्रुघ्न उसे अवश्य जीत लेंगे। सेनापति की बात सुनकर सबको बहुत प्रसन्नता हुई। इतने में नगर में गये हुए गुप्तचरों ने आकर समाचार दिये कि—इस समय राजा मधु वनक्रीड़ा के लिये नगर के बाहर उपवन में रहता है; उसे खबर तक नहीं है कि आप मथुरा जीतने के लिये आये हैं; इसलिये मथुरा पर आसानी से अधिकार किया जा सकता है। यह सुनकर शत्रुघ्न ने अपने योद्धाओं सहित मथुरा नगरी में प्रवेश किया,—जिसप्रकार योगी कर्मनाश करके सिद्धपुरी में प्रवेश करते हैं; उसीप्रकार शत्रुघ्न द्वारों को तोड़कर मथुरापुरी में प्रविष्ट हुए और आयुधशाला पर अपना अधिकार कर लिया। परचक्र के आगमन से नगरजन भयभीत हो गये, किन्तु शत्रुघ्न ने ऐसा कहकर उन्हें धैर्य बँधया कि यहाँ श्रीराम का राज्य है; उसमें किसी को दु:ख या भय नहीं है।

शत्रुघ्न ने मथुरा में प्रवेश किया है, यह सुनकर राजा मधु क्रोधपूर्वक उपवन से नगर की ओर आया, परन्तु शत्रुघ्न के योद्धाओं ने उसे नगर में प्रविष्ट नहीं होने दिया;—जिसप्रकार मुनिराज के हृदय में मोह का प्रवेश नहीं होता, उसीप्रकार राजा अनेक उपाय करने पर भी नगर में प्रवेश नहीं कर सका। यद्यपि वह त्रिशूलरहित हो गया था, तथापि महा अभिमान के कारण उसने शत्रुघ्न से युद्ध किया। युद्ध में राजा मधु का पुत्र लवणसागर सेनापति कृतान्तवक्र के प्रहार से मृत्यु को प्राप्त

हुआ। पुत्र की मृत्यु देखकर मधुराजा अत्यन्त शोक एवं क्रोधपूर्वक शत्रुघ्न की सेना से युद्ध करने लगा, किन्तु जिसप्रकार जिनशासन में स्याद्वादी पण्डित के समक्ष कोई एकान्तवादी नहीं टिक सकता; उसीप्रकार शत्रुघ्न की वीरता के समक्ष मधुराजा के योद्धा न टिक सके।

शत्रुघ्न को दुर्जय समझकर, स्वयं को त्रिशूल आयुध रहित जानकर तथा पुत्र की मृत्यु और अपनी भी अल्पायु देखकर मधुराजा अत्यन्त विवेकपूर्वक विचार करने लगा कि—'अहो! संसार का समस्त आरम्भ महा हिंसारूप एवं दुःखदायी है, इसलिये सर्वथा त्याज्य है; मूढ़ जीव इस क्षणभंगुर संसार में सुख मान रहे हैं। इस जगत में धर्म ही प्रशंसनीय है। यह दुर्लभ मनुष्य देह पाकर भी जो जीव धर्म में बुद्धि नहीं लगाता, वह मोह द्वारा ठगा हुआ अनंत भवभ्रमण करता है। अरे! मुझ पापी ने असाररूप संसार को सार समझा, क्षणभंगुर शरीर को ध्रुव माना और अभी तक आत्महित नहीं किया... जब मैं स्वाधीन था, तब मुझे सुबुद्धि उत्पन्न नहीं हुई; अब तो मेरा अन्तकाल आ गया है.. सर्प डस ले उस समय दूर देश से मणिमंत्र या औषधि मँगवाने से क्या लाभ? इसलिये अब मैं सर्व चिन्ताओं को छोड़कर निराकुलरूप से अपने मन का समाधान करूँ।''—ऐसा विचार करके युद्ध में हाथी के हौदे पर बैठा हुआ मधु राजा मुनि भावना भाने लगा... और बारम्बार अरहन्त-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय एवं साधुओं को मन-वचन-काय से नमस्कार करने लगा; और सोचने लगा कि अरहन्त-सिद्ध-साधु तथा केवली प्ररूपित धर्म ही मंगलरूप है, वही उत्तमरूप है तथा उसी की मुझे शरण है। ढाई द्वीप के भीतर कर्मभूमि में (पाँच भरत, पाँच ऐरावत, पाँच विदेह में) जो अरहंतदेव हैं, वे मेरे हृदय में वास करें... मैं बारम्बार उन्हें नमस्कार करता हूँ... अब मैं सर्व पापों को यावत् जीवन छोड़ता हूँ... अनादिकाल से संसार में उपार्जित मेरे दुष्कृत्य मिथ्या होओ... अब मैं तत्त्वज्ञान में स्थिर होकर, त्यागनेयोग्य जो रागादिक, उनका त्याग करता हूँ तथा ग्रहण करनेयोग्य जो निजभाव-जिनभाव, उसे ग्रहण करता हूँ; ज्ञानदर्शन मेरा स्वभाव ही है; वह मुझसे अभेद्य है, और शारीरिक समस्त पदार्थ मुझसे पृथक् हैं... संन्यास मरण के समय भूमि अथवा तृणादि का त्याग, वह सच्चा त्याग नहीं है, किन्तु दोषरहित ऐसा शुद्ध आत्मा स्वयं ही अपना त्याग है।—ऐसा विचार करके मधुराजा ने दोनों प्रकार के परिग्रहों का भावपूर्वक त्याग किया। जिसका शरीर अनेक घावों से घायल है, ऐसा मधुराजा हाथी की पीठ पर बैठा-बैठा केशलोंच करने लगा... वीररस छोड़कर उसने शांतरस अंगीकार किया... और महा धैर्यपूर्वक अध्यात्मयोग में आरूढ़ होकर देह का ममत्व छोड़ दिया...

मधुराजा की ऐसी परम शांतदशा देखकर शत्रुघ्न कहने लगे कि—"हे साधो! मेरा अपराध क्षमा करो!.... धन्य है आपके वैराग्य को... !" युद्ध के समय पहले मधुराजा का वीररस और फिर शांतरस देखकर देव भी आश्चर्यसहित पुष्पवृष्टि करने लगे... महाधीर मधुराज एक क्षण में समाधिमरण करके तीसरे स्वर्ग में देव हुए और शत्रुघ्न ने उनकी स्तुति करके मथुरा नगरी में प्रवेश किया।

असुरेन्द्र (चमरेन्द्र) ने मधुराजा को जो महाप्रचण्ड त्रिशूल दिया था, उसका अधिष्ठाता देव मधुराजा के मरण से खेदखिन्न होकर असुरेन्द्र के निकट आया और युद्ध के तथा मधुराजा की मृत्यु के समाचार सुनाये। असुरेन्द्र की राजा मधु के साथ अत्यन्त मित्रता थी, इसलिये महाक्रोध पूर्वक पाताल से निकलकर वह मथुरा आने के लिये उद्यमी हुआ।

उस समय गरुडेन्द्र उसके निकट आया और पूछा कि—हे दैत्येन्द्र! कहाँ के लिये प्रस्थान कर रहे हैं?

चमरेन्द्र ने कहा—जिसने मेरे परम मित्र मधु को मारा है, उसे कष्ट देने जा रहा हूँ।

गरुडेन्द्र ने कहा—क्या विशल्या का माहात्य आप नहीं जानते? युद्ध में जब रावण की अमोघ शक्ति से लक्ष्मणजी मूर्च्छित हो गये थे, तब विशल्या के स्नान जल के प्रभाव से ही वह अमोघशक्ति भाग गई थी, क्या यह आपने नहीं सुना है?—(विशल्या लक्ष्मणजी की पटरानी थीं।)

चमरेन्द्र बोला—विशल्या की वह अद्‌भुत शक्ति कौमार्यावस्था में ही थी, इससमय तो वह विषरहित नागिन समान हो गई है, जबतक उसने वासुदेव का आश्रय नहीं किया था, तभी तक ब्रह्मचर्य के प्रसाद से उसमें असाधारण शक्ति थी, इससमय यद्यपि वह पतिव्रता है किन्तु ब्रह्मचारिणी नहीं है, इसलिये अब उसमें वह शक्ति नहीं रही। मैं अपने मित्र मधुराजा के शत्रु से अवश्य बदला लूँगा।—ऐसा कहकर वह चमरेन्द्र मथुरा आया।

मथुरा आकर चमरेन्द्र ने देखा कि यहाँ तो स्थान-स्थान पर उत्सव मनाया जा रहा है... जैसा उत्सव मधुराजा के समय में होता था, वैसा ही इस समय नगरजन मना रहे हैं। यह देखकर चमरेनद्र ने विचार किया कि—अरे! यह प्रजाजन महादुष्ट एवं कृतघ्नी हैं। नगर का स्वामी पुत्र सहित मृत्यु को प्राप्त हुआ और दूसरे राजा ने उसके राज्य पर अधिकार कर लिया, फिर भी इन्हें शोक नहीं है, उल्टा हर्ष मना रहे हैं! जिसकी छत्रछाया में इतने समय तक सुखपूर्वक रहे, उस मधुराजा की मृत्यु से इन लोगों को क्यों दुःख नहीं हुआ? यह लोक कृतघ्नी और मूर्ख हैं, इसलिये मैं इनका नाश कर

दूँगा, समस्त मथुरा नगरी को नष्ट करता हूँ!—इसप्रकार वह असुरेन्द्र महाक्रोध पूर्वक मथुरानगरी की प्रजा पर घोर उपसर्ग करने लगा। सारे नगर में भयंकर मरी व्याधि फैल गई... जो जहाँ खड़े थे, वहीं खड़े-खड़े मरने लगे... जो बैठे थे, वे बैठे-बैठे मृत्यु को प्राप्त हुए... और सोनेवाले सोते-सोते मर गये... इसप्रकार उस भयंकर मरी के रोग से सारे नगर में हाहाकार मच गया और देवकृत उपसर्ग समझकर शत्रुघ्न भी अयोध्या लौट आये।

यद्यपि अयोध्या नगरी अति सुन्दर है, तथापि शत्रुघ्न का चित्त वहाँ नहीं लगता; उनका चित्त तो मथुरापुरी में ही अति-आसक्त है... जिसप्रकार सीता के बिना राम उदास रहते थे, उसीप्रकार मथुरा के बिना शत्रुघ्न भी उदास रहते हैं। यहाँ शास्त्रकार कहते हैं कि—जीवों को इष्ट वस्तु का संयोग क्षणभंगुर है... और उसका वियोग दाह उत्पन्न करता है।

शत्रुघ्न किस कारण से मथुरा की माँग की? उन्हें अयोध्या की अपेक्षा मथुरा का निवास क्यों विशेष प्रिय लगा? स्वर्ग के समान दूसरी अनेकों राजधानियाँ होने पर भी उनकी इच्छा न करके मथुरा की ही इच्छा क्यों की? मथुरा के प्रति शत्रुघ्न को इतनी अधिक प्रीति क्यों? उसके स्पष्टीकरण में शास्त्रकार कहते हैं कि—शत्रुघ्न के जीव ने पूर्वकाल में अनेकों भव मथुरा में (मधुपुरी में) धारण किये हैं, इसलिये उन्हें मथुरा के प्रति अधिक स्नेह है। शत्रुघ्न का जीव संसार में भवभ्रमण करते-करते एक बार मथुरा में यमनदेव नाम का व्यक्ति हुआ। महाक्रूर धर्म विमुख परिणाम से मरकर उसने तिर्यंचगति में अनेकों भव धारण किये और फिर कुलंधर नाम का दुराचारी ब्राह्मण हुआ; वहाँ से तप करके स्वर्ग में गया; वहाँ से फिर मथुरा नगरी में चन्द्रप्रभा राजा का अचल नामक पुत्र हुआ। एक बार अचलकुमार को जंगल में कांटा लग गया और वह अपकुमार नाम के पुरुष ने निकाला; इसलिये दोनों में मित्रता हो गई। जब अचलकुमार ने अनेक देशों सहित मथुरा का राज्य प्राप्त किया, तब उसने अपने मित्र अपकुमार को उसकी जन्मभूमि श्रावस्ती नगरी का राज्य दिया और दोनों मित्र एकसाथ रहने लगे। एक दिन दोनों मित्रों ने यशसमुद्र आचार्य के निकट मुनिदीक्षा धारण की और सम्यग्दर्शनपूर्वक परमसंयम की आराधनापूर्वक समाधिमरण करके उत्कृष्ट देव हुए। वहाँ से च्यवकर अचलकुमार का जीव तो राजा दशरथ की सुप्रभा रानी का पुत्र शत्रुघ्न हुआ और उसके मित्र अपकुमार का जीव कृतान्तवक्र सेनापति हुआ।—इसकारण शत्रुघ्न को मथुरा नगरी से विशेष प्रीति थी।

इधर मथुरा नगरी में चमरेन्द्रकृत घोर मरी व्याधि का उपद्रव चल रहा था। उसी समय क्या हुआ कि—आकाश में गमन करनेवाले और सूर्यसमान तेजस्वी ऐसे चारण ऋद्धिधारी सात ऋषि-मुनिवर विहार करते-करते मथुरा नगरी में पधारे। श्री मनु, सुरमन्यु, निचय, सर्वसुन्दर, जयवान, विनयकला और संजयमित्र नाम के सातों मुनिवर महाचारित्र के धारी और सगे भाई थे। वे श्रीनन्दन राजा और धरिणीसुन्दरी रानी के पुत्र थे। प्रीतंकर स्वामी का केवलज्ञान देखकर वे सातों पुत्र, पिता के साथ ही वैराग्य को प्राप्त हुए और मात्र एक महीने के तुंबरु नामक पुत्र को राज्य देकर पिता तथा सातों पुत्र प्रीतंकर स्वामी के निकट दीक्षा लेकर मुनि हुए। श्रीनन्दन राजा तो केवली हुए और यह सातों पुत्र चारणऋद्धि आदि अनेक ऋद्धियों के धारी श्रुतकेवली हुए;—केवली भगवान के नन्दन हुए। वे गगनविहारी सप्तर्षि श्रुतकेवली भगवन्त पृथ्वी को पावन करते-करते मथुरापुरी में पधारे और चातुर्मास के लिये मथुरा के वन में एक वटवृक्ष के नीचे विराजमान हुए। सप्तर्षिक भगवन्तों का पुनीत पदार्पण होते ही उनके तप के प्रभाव से चमरेन्द्र द्वारा फैलाया गया मरी का घोर उपसर्ग एकदम शांत हो गया तथा समस्त मथुरा नगरी सुखरूप हो गई। जिसप्रकार सूर्य का आगमन होने से अंधकार भाग जाता है, उसीप्रकार सप्तर्षि मुनिवरों का आगमन होते ही उनके प्रताप से मरी रोग का घोर उपसर्ग दूर हो गया तथा सारे नगर में शांति छा गई। फल-फूल खिल गये, वृक्ष और बेले लहलहा उठीं; बिना बोये धान्य उगने लगे; समस्त रोग रहित मथुरापुरी अति शोभायमान हो गई और नगरजनों ने महा आनन्दपूर्वक सातों मुनिवरों के दर्शन-पूजन किये।

[मथुरा नगरी में सप्तर्षि मुनिवरों के आगमन का यह आनन्दमय प्रसंग जिन मन्दिर के चित्र में अंकित किया गया है। जिनके दर्शन करते भक्तों के हृदय में आनन्द की ऊर्मि जागृत हो, ऐसे सप्तर्षि मुनिभगवन्तों की पंक्ति मथुरा के जिनमन्दिर में विराजमान है। मथुरा में 'सप्तर्षि-टीला' नाम का एक स्थान भी है।]

## उन सप्तर्षि मुनिभगवन्तों को हमारा नमस्कार हो!

वे सप्तर्षि मुनिभगवन्त अनेकविध तप करते हुए चातुर्मास तो मथुरा के वन में कर रहे हैं और चारणऋद्धि के प्रभाव से आहार अन्य किसी भी नगरी में कर आते हैं। आकाशमार्ग में क्षणमात्र में कभी पोदनापुर पहुँचकर आहार लेते हैं तो विजयपुर जाते हैं; कभी उज्जैन तो कभी सौराष्ट्र में पधारते हैं। (चारण ऋद्धिधारी मुनिवर आकाश में विचरते हैं और चातुर्मास में भी विहार करते हैं।)—इसप्रकार किसी भी नगरी में जाकर उत्तम श्रावक के यहाँ आहार लेते हैं और फिर

मथुरा नगरी में आ जाते हैं। वे धीरवीर महाशांत मुनिवर एकबार आहार के समय अयोध्यानगरी में पधारे और अर्हदत्त सेठ के भवन के निकट पहुँचे।

अचानक उन मुनिवरों को देखकर अर्हदत्त सेठ ने विचार किया कि—''अरे! मुनि तो चातुर्मास में विहार करते नहीं हैं और यह मुनि यहाँ कैसे आ पहुँचे? चातुर्मास के पूर्व तो यह मुनि यहाँ आये नहीं थे! अयोध्या के आसपास वन में, गुफाओं में, नदी किनारे, वृक्षों के नीचे या वन चैत्यालयों में जहाँ-जहाँ मुनि चातुर्मास कर रहे हैं, उन सबको वन्दना मैं कर चुका हूँ, किन्तु इन साधुओं को मैंने कभी नहीं देखा; यह मुनि आचारांगसूत्र की आज्ञा से पराङ्मुख स्वेच्छाचारी मालूम होते हैं; इसीलिये तो वर्षाकाल में जहाँ-तहाँ घूम रहे हैं। यदि जिनाज्ञा के पालक होते तो वर्षाकाल में विहार कैसे करते? इसलिये यह मुनि जिनाज्ञा से बाहर हैं।''—ऐसा सोचकर अर्हदत्त सेठ ने मुनियों का सत्कार नहीं किया और वहाँ से चले गये। किन्तु उनकी पुत्रवधू ने अत्यन्त भक्ति से विधिपूर्वक मुनियों को आहारदान दिया।

आहार ग्रहण करके सातों मुनिवर, भगवान के चैत्यालय में आये जहाँ द्युतिभट्टारक आचार्य विराजमान थे। सातों ऋषि-मुनिवर ऋद्धि से प्रभावे से चार अंगुल अलिप्तरूप से अर्थात् धरती से चार अंगुली ऊपर चले आ रहे थे; चैत्यालय में आकर उन्होंने धरती पर चरण रखे। उन सप्तर्षि भगवन्तों को देखते ही द्युतिभट्टारक आचार्य खड़े हुए और अत्यन्त आदरपूर्वक उन्हें नमस्कार किया। अन्य शिष्यों ने भी नमस्कार किया। सप्तर्षि भगवन्तों ने उनसे धर्मचर्चा की और फिर चैत्यालय में जिनवन्दना करके वे मथुरा नगरी में लौट आये।

सप्तर्षि मुनिवरों के जाने पर कुछ ही समय पश्चात् अर्हदत्त सेठ चैत्यालय में आये, तब द्युतिभट्टारक आचार्य ने उनसे कहा कि—''सात महर्षि महायोगीश्वर चारण मुनि यहाँ पधारे थे; तुमने भी उनके दर्शन अवश्य किये होंगे; वे मुनिवर महातप के धारक हैं और मथुरानगरी में चातुर्मास कर रहे हैं। चारणऋद्धि से गगनविहार करके आहार के लिये चाहे जहाँ चले जाते हैं। आज उन्होंने अयोध्यापुरी में आहार लिया और फिर चैत्यालय की वंदना के हेतु यहाँ पधारे। हमारे साथ धर्मचर्चा भी की और फिर मथुरानगरी को लौट गये। वे महावीतरागी गगनगामी, परम उदारचेष्टा के धारक मुनिवर वंदनीय हैं।''—इत्यादि प्रकार से आचार्य के मुख से चारण मुनियों की महिमा सुनकर, श्रावक शिरोमणि अर्हदत्त सेठ खेदखिनन होकर खूब पश्चात्ताप करने लगे कि—''अरे! मुझे धिक्कार है... मैं मुनिवरों को नहीं पहिचान सका! अपने आँगन में आये हुए

मुनि भगवन्तों का मैने आदर-सत्कार नहीं किया... हाय! मुझ जैसा अधर्मी कौन होगा? वे मुनिवर आहार के हेतु मेरे आँगन में पधारे, किन्तु मैंने उन्हें नवधाभक्तिपूर्वक आहार दान नहीं दिया... मुझ जैसा पामर अज्ञानी दूसरा कौन होगा कि मैं आँगन में आये हुए संतों को नहीं पहिचान सका!! चारण मुनिवरों की तो रीति यही है कि चातुर्मास में निवास तो एक स्थान पर करें और आहार किसी भी नगर में जाकर लें! चारणऋद्धि के प्रभाव से उनके शरीर द्वारा जीवों को बाधा नहीं पहुँचती। अहा! जब तक मैं उन चारणऋद्धि धारी मुनिभगवन्तों के दर्शन नहीं करूँगा, तबतक मेरे मन का संताप नहीं मिट सकता।''—इसप्रकार पश्चात्तापपूर्वक अत्यन्त भक्तिपूर्वक चित्त से अर्हदत्त सेठ सातों मुनिवरों के दर्शन की कामना करने लगे।

कार्तिक पूर्णिमा निकट आते ही महासम्यग्दृष्टि अर्हदत्त सेठ ने समस्त परिवारसहित सप्तर्षि मुनिवरों की वन्दना-पूजा के लिये अयोध्या से मथुरा की ओर प्रयाण किया। जिन्होंने मुनिवरों की अपार महिमा को जाना है, राजा के समान जिनका वैभव है—ऐसे अर्हदत्त सेठ बारम्बार अपनी निन्दा और मुनिवरों की प्रशंसा करते हुए, रथ, हाथी घुड़सवार और पैदलों की विशाल सेनासहित योगीश्वरों की पूजा के लिये मथुरा की ओर चल पड़े। महाविभूतिसहित और शुभध्यान में तत्पर अर्हदत्त सेठ कार्तिक शुक्ला सप्तमी के दिन मुनिवरों के चरणों में आ पहुँचे। उन धर्मात्मा ने विधिपूर्वक सप्तर्षि मुनिवरों की वंदना एवं पूजा की तथा मथुरा नगरी को अनेक प्रकार से सजाया। मथुरा नगरी स्वर्ग के समान सुशोभित हो गई।

यह सब वृत्तान्त सुनकर शत्रुघ्नकुमार भी तुरन्त सप्तर्षि मुनिवरों के समीप आ पहुँचे और उनकी माता सुप्रभा भी मुनिभक्ति से प्रेरित हो उनके पीछे आई। शत्रुघ्न ने अत्यन्त भक्तिपूर्वक मुनिवरों से धर्म का श्रवण किया। मुनिवरों ने कहा - ''यह संसार असार है, एक वीतरागता ही सारभूत है। जिनदेव द्वारा कहा गया वीतरागमार्ग ही जगत के जीवों को शरणभूत है। जिनधर्म के अनुसार उसकी आराधना करो!''

उपदेश सुनकर शत्रुघ्नकुमार विनय से कहने लगे कि—''हे देव! आपके पदार्पण से मथुरा नगरी का महान उपसर्ग मरी रोग दूर हुआ; दुर्भिक्ष गया और सुभिक्ष का आगमन हुआ; सर्व जीवों को शांति एवं धर्म वृद्धि हुई, इसलिये हे प्रभो! कृपा करके आप कुछ दिनों तक यहीं बिराजें!''

तब श्री मुनिराज ने कहा कि हे शत्रुघ्न! जिन आज्ञा के अनुसार अधिक समय तक रहना योग्य नहीं है, अब हमारे चातुर्मास का काल पूर्ण हुआ... मुनि तो अप्रतिबद्ध-विहारी होते हैं, यह

चौथा काल धर्म के उद्योत का है, इसमें अनेक जीव मुनिधर्म धारण करते हैं, जिन आज्ञा का पालन करते हैं और महामुनि केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष जाते हैं। बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ तो मोक्ष पधारे, अब इस भरतक्षेत्र में नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और वर्द्धमान—यह चार तीर्थंकर होंगे। हे भव्य! जिनशासन के प्रभाव से मथुरा नगरी का उपद्रव दूर हो गया है, अब मथुरा के समस्त जन धर्म में तत्पर होना, दया पालन करना, साधर्मियों के प्रति वात्सल्य एवं जिनशासन की प्रभावना करना। घर-घर में जिनबिम्बों की स्थापना, जिनपूजन तथा अभिषेक की प्रवृत्ति करना, उससे सर्वत्र शांति होगी। जो जिनधर्म की आराधना नहीं करेगा, उसी पर आपदा आयेगी, किन्तु जो जिनधर्म का आराधन करेंगे, उनसे तो आपदा ऐसी भागेगी जिसप्रकार गरुड़ को देखकर नागिन भागती है। इसलिये जिनधर्म की आराधना में सर्व प्रकार से तत्पर रहना...''

शत्रुघ्न ने कहा, ''प्रभो! आपकी आज्ञानुसार समस्त प्रजा धर्माराधना में प्रवृत्त होगी।''

तत्पश्चात् मुनिवर तो आकाशमार्ग से विहार कर गये और अनेक निर्वाण भूमियों की वन्दना करके अयोध्या नगरी में पधारे, वहाँ सीताजी के घर आहार किया। सीताजी ने महा हर्षपूर्वक श्रद्धादि गुणों सहित मुनिवरों को प्रासुक आहार दिया।

इधर शत्रुघ्न ने मथुरा नगरी के बाहर तथा भीतर अनेक जिनमंदिरों का निर्माण कराया, घर-घर में जिनबिम्बों की स्थापना कराई और धर्म का महान उत्सव किया। समस्त नगरी उपद्रवरहित हो गई। वन-उपवन फल-फूलों से शोभायमान हो उठे, सरोवरों में कमल खिल गये और भव्य जीवों के हृदय कमल प्रफुल्लित होकर धर्माराधन में तत्पर हुए। इसप्रकार सप्तर्षि मुनिभगवन्तों के प्रताप से मथुरानगरी का उपद्रव दूर हो गया और महान धर्मप्रभावना हुई।

कथा के अन्त में शास्त्रकार कहते हैं कि जो जीव इस अध्याय को पढ़ेंगे, सुनेंगे तथा साधुओं की भक्ति में अनुरागी होकर मुनिवरों का समागम चाहेंगे,—उन जीवों को मनवांछित फल की प्राप्ति होगी, अर्थात् वे साधुओं की संगति पाकर धर्माराधन द्वारा परमपद को प्राप्त करेंगे।

# आत्मार्थी जीव का उत्साह
## और

## आत्मा की लगन

(लेखाङ्क-१)

[श्री पंचास्तिकाय गाथा १०३ के प्रवचनों से]

आत्मार्थी जीव की उत्कंठा और आत्मा की लगन कैसी होती है; अपना सम्यक्त्वकार्य साधने के लिये उसका उत्साह तथा उद्यम कैसा होता है; तत्सम्बन्धी अत्यन्त सुन्दर एवं प्रेरणादायी विवेचन पूज्य गुरुदेव ने इन प्रवचनों में किया है।

''संसार सागर से पार होने की जिसे तीव्र आकांक्षा है—ऐसे आत्मार्थी जीव से ज्ञानी सन्त भेदज्ञानरूपी जहाज में बैठने को कहते हैं; वहाँ वह आत्मार्थी जीव भेदज्ञान में प्रमाद नहीं करता; और भेदज्ञान का उपाय दर्शानेवाले सन्तों के प्रति उसे महान उपकारबुद्धि होती है कि हे नाथ! आपने हमें अनंत जन्म-मरण के समुद्र में डूबने से बचा लिया; संसार में जिसका कोई बदला नहीं है—ऐसा परम उपकार आपने हम पर किया है।

जीवादि छह द्रव्यों और पाँच अस्तिकायों का वर्णन करके, उपसंहार में उनके ज्ञान का फल दर्शाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि—

**एव प्रवचनसारं पञ्चास्तिकायसंग्रहं विज्ञाय।**
**यो मुञ्चति रागद्वेषौ स गाहते दुःखपरिमोक्षम्॥१०३॥**

—इसप्रकार प्रवचन के सारभूत 'पंचास्तिकाय संग्रह' को जानकर जो राग-द्वेष को छोड़ता है, वह दुःख से परिमुक्त होता है।

प्रवचन अर्थात् भगवान सर्वज्ञदेव का उपदेश; उसमें कालसहित पाँच अस्तिकाय, अर्थात् जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—यह छह द्रव्य कहे गये हैं। भगवान सर्वज्ञदेव के प्रवचन में छह द्रव्यों का ही समस्त विस्तार है; उससे अन्य कुछ नहीं कहा जाता। जड़-चेतन, सुख-दुःख, पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष इत्यादि सब छह द्रव्यों का ही विस्तार है; इसलिये छह द्रव्य

प्रवचन का सार है। जो कालसहित पंचास्तिकाय को अर्थात् छह द्रव्यों को स्वीकार न करे वह भगवान सर्वज्ञदेव के प्रवचन को नहीं जानता।

छह द्रव्य ही भगवान सर्वज्ञदेव के प्रवचन का सार हैं; ऐसे प्रवचन के सार को जो जीव जानता है, वह दु:खों से परिमुक्त होता है; किन्तु किसप्रकार जानता है ?—कि 'अर्थत: अर्थीरूप से' जानता है।

'अर्थत: अर्थी' – कहकर आचार्यदेव ने पात्र श्रोता की योग्यता बतलाई है। पात्र श्रोता कैसा है ? आत्मा का अर्थी है; आत्मा के हित का आकांक्षी है; किसी भी प्रकार मेरे आत्मा का हित हो – इसप्रकार अंतर आकांक्षी हुआ है; याचक हुआ है; अर्थात् हित के लिये विनय से दीन बनकर अर्पित हो गया है; सेवक हो गया है; जिनके निकट आत्म प्राप्ति हो ऐसे सन्तों के प्रति सेवकरूप से वर्तता है और शास्त्र जानने में उसका कोई अन्य हेतु नहीं है; मात्र आत्महित की प्राप्ति का ही हेतु है। शास्त्र पढ़कर मैं दूसरों से आगे बढ़ जाऊँ; मान-बड़प्पन प्राप्त करूँ अथवा दूसरों को समझा दूँ—ऐसे आशय से जो नहीं पढ़ता; किन्तु शास्त्र पढ़कर, छह द्रव्यों का स्वरूप समझकर, मैं अपने आत्महित की साधना किसप्रकार करूँ और मेरा आत्मा दु:ख से कैसे मुक्त हो—इसप्रकार आत्मा का शोधक होकर पढ़ता है।

ऐसा आत्मा का अर्थी जीव, शास्त्र को किस प्रकार जानता है ?—कि 'अर्थत: जानता है' अर्थात् मात्र शब्द से नहीं जानता, किन्तु उसके वाच्यभूत अर्थ का लक्ष करके जानता है; भावश्रुतपूर्वक जानता है। अकेले शाब्दिक ज्ञान से सन्तुष्ट नहीं होता, किन्तु अन्तर में शोधक होकर वाच्यभूत वस्तु को ढूँढ़ता है; सुख का शोधक होकर पदार्थों का स्वरूप जानता है।

अहा! अर्थीरूप से जानना कहकर आचार्यदेव ने श्रोता की कितनी उत्कंठा बतलाई है! स्वयं अर्थी होकर-शोधक होकर श्रवण करने जाता है; किन्तु ऐसा नहीं है कि जब सहज श्रवण करने का योग बन जाये, तब सुन ले और फिर उसकी दरकार नहीं करे। यहाँ तो शिष्य स्वयं अभिलाषी होकर—गरजी होकर, किसी प्रकार मुझे अपना स्वरूप समझ में आ जाये—ऐसी अन्तर में झूरना करके सुनने की अभिलाषा पूर्वक श्रवण करता है।

सम्यक्त्व की तैयारीवाले जीव को अपना कार्य साधने का अत्यन्त उत्साह होता है; वह जीव, सम्यक्त्व के लिये उत्साह पूर्वक कैसा प्रयत्न करता है इसका वर्णन करते हुए 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में कहते हैं कि—'जीवादि तत्त्वों को जानने के लिये कभी स्वयं ही विचार करता है,

कभी शास्त्र पढ़ता है, कभी सुनता है, कभी अभ्यास करता है तथा कभी प्रश्नोत्तर करता है—इत्यादिरूप से वर्तता है और उसे अपना कार्य करने का महान हर्ष होने से अंतरंग प्रीतिपूर्वक उसका समाधान करता है।—इसप्रकार साधन करते-करते जबतक सच्चा तत्त्वश्रद्धान न हो; 'यह ऐसा ही है'—ऐसी प्रतीतिपूर्वक जीवादि तत्त्वों का स्वरूप स्वयं को भासित न हो; जैसी पर्याय में (शरीर में) अहंबुद्धि है, वैसे मात्र आत्मा में न हो; और हित-अहितरूप अपने भावों को न पहिचाने, तबतक वह जीव उद्यम करता ही रहता है; ऐसा जीव कुछ ही काल में सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

आत्मार्थी जीव उल्लसित वीर्यवान है; उसके परिणाम उल्लासरूप होते हैं; अपने स्वभाव को साधने के लिये उसका वीर्य उत्साहित होता है। श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि—**'उल्लसित वीर्यवान, परम तत्त्व की उपासना का मुख्य अधिकारी है।'**

आत्मार्थी जीव अपने आत्महित के लिये उल्लासपूर्वक श्रवण-मनन करता है। कुल प्रवृत्ति पूर्वक अथवा श्रवण का सहज योग बनने पर श्रवण कर ले, किन्तु समझने का प्रयत्न न करे तो उसे आत्मा की गरज नहीं है; इसलिये यहाँ आत्मा का अर्थी होकर शास्त्रों का जानना कहा है।

**''काम एक आत्मार्थ का, अन्य नहीं मन रोग।''**

जिसके अन्तर में एक आत्मार्थ साधने का ही लक्ष है; मेरा अनादिकालीन भव रोग कैसे दूर हो?—इसके अतिरिक्त अन्य कोई रोग अर्थात् मानादि की भावना जिसके अन्तर में नहीं है;—इसप्रकार आत्मा का अर्थी होकर शिष्य पंचास्तिकाय संग्रह को जानता है... वह सर्व दुःखों से परिमुक्त होता है।

जिसप्रकार कोई चिर क्षुधातुर व्यक्ति क्षुधा शांत करने के लिये याचकरूप से—मान छोड़कर भोजन माँगे; वह अपने लिये माँगता है; अन्य किसी को देने के लिये नहीं माँगता। मेरा भूख का दुःख शांत हो ऐसा कुछ भोजन मुझे दीजिये—इसप्रकार याचक होकर माँगता है। ऐसे क्षुधातुर मनुष्य को भोजन मिलने पर वह उसे कितना मीठा लगता है? सूखी रूखी रोटी मिल जाये तो भी प्रेम से खाकर अपनी क्षुधा शांत करता है। उसीप्रकार जिस जीव को आत्मा की लगन लगी है, भूख लगी है कि अरे! अनादिकाल से संसार में भटकते हुए मेरे आत्मा ने कहीं भी सुख प्राप्त नहीं हुआ; एकान्त दुःख ही मिला; अब दुःखों का अंत होकर उसे सुख कैसे प्राप्त हो—इसप्रकार सुख के उपाय की अभिलाषा रखता है। वह जीव, सन्त-ज्ञानी के निकट जाकर दीन

होकर—भिक्षुक की भाँति—याचक बनकर विनय से माँगता है कि प्रभो! मुझे मेरे आत्मा के सुख का मार्ग समझाइये; इस भव दुःख से छूटने का मार्ग बतलाइये!—इसप्रकार जो आत्मा का गरजी होकर आया है और उसे आत्मा के आनन्द की बात सुनने को मिल जाये तो कितनी अच्छी लगेगी! जो आत्मा का सच्चा अभिलाषी होकर सुनता है, उसे श्रवण के साथ ही वह बात अंतर में परिणमित हो जाती है। जिसप्रकार भूखे मनुष्य के पेट में भोजन जाते ही वह परिणमित हो जाता है उसीप्रकार चैतन्य की सच्ची अभिलाषा जिसे जागृत हुई है उसके कानों में वाणी पहुँचते ही वह आत्मा में परिणमित हो जाती है।

जिसप्रकार तृषातुर मनुष्य को शीतल जल मिलने पर वह प्रेमपूर्वक पीता है; उसीप्रकार आत्मा के अभिलाषी को चैतन्य के शांतरस का पेय मिलने पर वह उसे रुचिपूर्वक झेलकर अन्तर में परिणमित कर लेता है। कोई मनुष्य कड़ी धूप में रेगिस्तान के बीच पड़ा हो; प्यास के मारे प्राण निकल रहे हों; पानी-पानी की पुकार कर रहा हो और उस समय शीतल-मीठा जल मिल जाये तो कितनी आतुरता से पीता है!! उसीप्रकार विकार की आकुलतारूपी कड़ी धूप में भवरूपी रेगिस्तान के बीच भटकता हुआ जीव संतप्त हो रहा है; वहाँ आत्मार्थी जीव को आत्मा की तृषा लगी है—लगन लगी है; आत्मशांति के लिये झूर रहा है; ऐसे जीव को संतों की मधुर वाणी द्वारा चैतन्य के शांतरस का पेय मिलते ही वह अंतर में परिणमित हो जाता है। जिसप्रकार कोरे घड़े पर पानी की बूँद गिरते ही वह उसे चूस लेता है, उसीप्रकार आत्मार्थी जीव आत्महित की बात को पी लेता है—अंतर में परिणमित कर लेता है।

आत्मार्थी जीव को अपना आत्मस्वरूप समझने के लिये अन्तर में इतनी उत्कंठा है कि वह दूसरों के द्वारा किये जानेवाले मान-अपमान की ओर नहीं देखता; "मुझे तो अपने आत्मा को रिझाना है; मैं जगत को नहीं रिझाना चाहता; जगत की अपेक्षा हमें आत्मा प्यारा है, आत्मा की अपेक्षा जगत नहीं।"—ऐसी आत्मलगन के कारण वह जगत के मान-अपमान की चिन्ता नहीं करता। मुझे तो समझकर अपने आत्मा का हित करना है—यही लक्ष है; किन्तु मैं समझकर दूसरों से आगे बढ़ जाऊँ अथवा दूसरों को समझा दूँ, सुना दूँ—ऐसी वृत्ति नहीं उठती। देखो, यह आत्मार्थी जीव की पात्रता!

जैसे—थके हुए व्यक्ति को विश्राम मिलने पर (अथवा वाहन-सवारी मिलने पर) वह हर्षित होता है और रोग से पीड़ित मनुष्य को वैद्य मिलने पर वह उत्साहित होता है; उसीप्रकार

भव-भ्रमण कर-करके थके हुए तथा आत्मभ्रान्ति के रोग से पीड़ित जीव को वह थकावट एवं रोग दूर करनेवाली चैतन्यस्वभाव की बात कानों में पड़ते ही, उत्साहपूर्वक उसका सेवन करता है। सच्चे सद्गुरु वैद्य ने जैसा कहा है, तदनुसार वह चैतन्य का सेवन करता है; सन्त के निकट दीन होकर भिक्षुक की भाँति 'आत्मा' की याचना करता है कि प्रभो! मुझे आत्मा समझाइये।

बीच समुद्र में डूबते हुए को एक ही लक्ष है कि मैं समुद्र में डूबने से कैसे बचूँ? वहाँ कोई सज्जन आकर उसे बचाये तो कैसी उपकारबुद्धि होती है?—अहा! इन्होंने मुझे समुद्र में डूबने से बचा लिया; मुझे जीवन दिया;—इसप्रकार महान उपकार मानता है; उसीप्रकार भवसमुद्र में गोते खा-खाकर थके हुए जीव का एक ही लक्ष है कि मेरा आत्मा इस संसार समुद्र से कैसे बचे! वहाँ कोई ज्ञानी पुरुष उसे तरने का उपाय बतलायें तो वह प्रमाद किये बिना, उल्लसित भाव से उस उपाय को अंगीकार करता है। जिसप्रकार डूबते हुए पुरुष से कोई जहाज में बैठने को कहे तो क्या वह किंचित् भी प्रमाद करेगा?—नहीं करेगा; उसीप्रकार संसार से पार होने के कामी आत्मार्थी जीव को ज्ञानी-सन्त भेदज्ञानरूपी जहाज में बैठने को कहते हैं; वहाँ वह आत्मार्थी जीव भेदज्ञान में प्रमाद नहीं करता; तथा भेदज्ञान का उपाय दर्शानेवाले सन्तों के प्रति उसे महान उपकारबुद्धि होती है कि हे नाथ! आपने मुझे अनंत जन्म-मरण के समुद्र से निकाल दिया, भवसमुद्र में डूबने से बचा लिया; संसार में जिसका कोई बदला नहीं है—ऐसा परम उपकार आपने हम पर किया है।

इसप्रकार आचार्यदेव ने अर्थतः अर्थीरूप से इस पंचास्तिकाय को जानना कहा है। अर्थतः अर्थीरूप से अर्थात् भाव समझने की लगन से, सच्ची अभिलाषा पूर्वक, रुचि से, उत्साह से, जिज्ञासा से गरजी होकर, याचक होकर, शोधक होकर, आत्मा का अर्थी बनकर पंचास्तिकाय को जानना।—इसप्रकार पंचास्तिकाय को जानकर क्या करें? वह अब कहते हैं।

## आत्मा को अत्यन्त विशुद्ध चैतन्यस्वभाववान निश्चित करना

....पंचास्तिकाय संग्रह को अर्थतः अर्थीरूप से जानकर, उसी में कहे हुए जीवास्तिकाय में अंतर्गत रहे हुए अपने को (निज आत्मा को) स्वरूप से अत्यन्त विशुद्ध चैतन्य स्वभाववाला निश्चित करना।

देखो, यह शास्त्र को जानने की रीति, अथवा शास्त्र को जानने का तात्पर्य!

आत्मा का अर्थी जीव, पंचास्तिकाय को जानकर अंतर में ऐसा निश्चय करता है कि मैं सुविशुद्ध ज्ञानदर्शनमय हूँ। इसप्रकार अंतर्मुख होकर सुविशुद्ध ज्ञानस्वभावरूप से अपने आत्मा का

जो निश्चय करता है, उसी को पंचास्तिकाय का यथार्थ ज्ञान होता है।

पंचास्तिकाय को जानकर क्या प्राप्त करना है ?—कि शुद्ध जीवास्तिकाय को प्राप्त करने योग्य है। पंचास्तिकाय के समूहरूप अनंत द्रव्य इस जगत में हैं; उनमें से अनंत अचेतनद्रव्य तो मुझसे भिन्न विजातीय हैं, वे मैं नहीं हूँ; और चैतन्य स्वभाववाले अनंत जीव भिन्न-भिन्न हैं, वे सभी 'जीवास्तिकाय' में आ जाते हैं। इसप्रकार जीवास्तिकाय में अन्तर्गत होने पर भी, अन्य अनंत जीवों से भिन्न मैं एक चैतन्य स्वभावी जीव हूँ।—इसप्रकार स्वसन्मुख होकर, अनंत काल में नहीं किये ऐसे अपूर्व भाव से आत्मा का निर्णय करता है। निर्णय की ऐसी दृढ़ भूमिका के बिना धर्म का निर्माण नहीं होता।

## ऐसे निर्णय का साधन क्या ?

मन्दराग साधन नहीं है, किन्तु ज्ञान और वीर्य का अन्तर्मुखी उत्साह ही उसका साधन है। ज्ञान और रुचि को अन्तरोन्मुख करने के उत्साह में मिथ्यात्वादि प्रतिक्षण टूटते जाते हैं।

'निर्णय' धर्म की दृढ़ भूमिका है; किन्तु वह निर्णय कैसा ?—मात्र श्रवण से हुआ नहीं, किन्तु अंतर में आत्मा का स्पर्श करके होनेवाला अपूर्व निर्णय। वह निर्णय ऐसा है कि कदाचित् देह का नाम तो भूल जाये, किन्तु निजस्वरूप को नहीं भूलता। देह का प्रेमी मिटकर जो 'आत्मप्रेमी' हुआ, वह कदाचित् देह का नाम तो भूल जायेगा, किन्तु आत्मा को नहीं भूल सकता। अपने ज्ञान की निर्मलता में अपनी ऐसी तस्वीर खिंच जाती है जो कभी मिट न सके। जिसने ऐसा निर्णय किया है, वह राग-द्वेष का क्षय करके अल्प काल में मुक्ति प्राप्त किये बिना नहीं रहेगा।

अर्थीरूप से पंचास्तिकाय को जानकर क्या करना चाहिये ?—तो कहते हैं कि आत्मा का अत्यन्त शुद्ध ज्ञानस्वरूप से निर्णय करो। देखो, जीव को पाँच में से पृथक् करके एक में-स्व में लाये हैं। पंचास्तिकाय का श्रवण करते समय भी जिज्ञासु जीव का लक्ष तो 'मेरा आत्मा ज्ञानस्वरूप है'—ऐसा निर्णय की ओर ही था। मेरा आत्मा शुद्ध ज्ञानस्वरूप है—इसप्रकार अंतर में लक्षगत करके सुना और वैसा निर्णय किया।

पंचास्तिकाय अर्थात् जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश; उन्हें जानकर उनके विचार में नहीं रुकना है; किन्तु 'मेरा आत्मा अत्यन्त विशुद्ध चैतन्यस्वभावी है'—ऐसा निर्णय करना है। पाँच द्रव्यों को अर्थरूप से जानने पर उसमें ऐसे जीवास्तिकाय का ज्ञान आ ही जाता है। भगवान के प्रवचन छह द्रव्यों के स्वरूप का कथन करते हैं; उन छह द्रव्यों का स्वरूप जानकर अपने आत्मा

को शुद्ध ज्ञानस्वभाव से निर्णय करना वह भगवान के प्रवचन का सार है। भगवान के प्रवचनों को वास्तव में किसने समण है ?—कि जो अपने आत्मा को शुद्ध ज्ञानस्वभावरूप से निर्णय करे, उसी ने भगवान के प्रवचनों को समझा है। निजतत्त्व के निर्णय बिना परतत्त्व का यथार्थ ज्ञान कभी हो ही नहीं सकता; इसलिये निजतत्त्व का निर्णय करके उसमें एकाग्र होना वह भगवान के समस्त प्रवचनों का तात्पर्य है—जिसके सेवन से दु:ख दूर होकर सुख की प्राप्ति होती है।

जगत के तत्त्वों को जानकर, अंतरोन्मुख होकर अपने आत्मा का जगत् से भिन्न, शुद्ध चैतन्यस्वरूप से निर्णय करना चाहिये। मात्र विकार नहीं, किन्तु शुद्ध चैतन्यस्वरूप से निर्णय करना चाहिये। निर्णय के समय विकार भले ही वर्तता हो, तथापि उस विकार की ओर न झुककर शुद्ध चैतन्यस्वभाव की ओर झुकना चाहिये। ऐसा निर्णय करना चाहिये कि—जिसके सेवन से दु:ख दूर होकर आनन्द की प्राप्ति होती है—वह विशुद्ध चैतन्यस्वरूप मैं हूँ।

श्रवण करते ही आत्मार्थी जीव के लक्षण ज्ञात हो जाते हैं; आत्मा के आनन्द की बात कानों में पड़ने पर आत्मार्थी का उत्साह छिपा नहीं रहता। जिसप्रकार 'पुत्र के लक्षण पालने में दिखने लगते हैं', उसीप्रकार आत्मार्थी के लक्षण आत्मा का श्रवण करते ही ज्ञात हो जाते हैं।

सुनकर निर्णय करने पर जोर दिया गया है। क्या निर्णय करना चाहिये ?—कि मेरा आत्मा विशुद्ध ज्ञान-आनन्दस्वरूप है ऐसा दृढ़ निर्णय करना चाहिये। ऐसा निर्णय करने के पश्चात् उस ओर के बारम्बार प्रयत्न से विशेष अनुभव होता है। निर्णय के बिना पुरुषार्थ की दिशा नहीं खुलती।

देखो, भाई! यह बात स्वयं अपने हित के लिये समझना है; स्वयं समझकर अपना हित कर लेना चाहिये; अन्य जीव क्या करते हैं—उसे देखने में नहीं रुकना है। यह वस्तु ही ऐसी है कि जगत के समस्त जीव प्राप्त नहीं कर सकते; कोई विरले ही उसे प्राप्त कर पाते हैं; इसलिये आचार्यदेव समयसार में कहते हैं कि—

**ज्ञानगुणेन विहीना एतत्तु पदं बहवोऽपि न लभंते।**
**तद् गृहाण नियतमेतद् यदीच्छसि कर्मपरिमोक्षम्॥२०५॥**

ज्ञानगुण से रहित अनेक पुरुष इस ज्ञानस्वरूप पद को प्राप्त नहीं कर पाते; इसलिए हे भव्य! यदि तू कर्म से सर्वथा मुक्त होना चाहता हो तो नियत एकरूप ऐसे इस ज्ञानस्वभाव को ग्रहण कर; ज्ञानस्वभाव का ही अवलम्बन कर।

पहले तो अटल निर्णय करना चाहिये कि मैं ज्ञानस्वभाव हूँ और उसी का मुझे अवलम्बन

करना योग्य है। दूसरा कुछ कम-अधिक आये तो कोई बात नहीं। कदाचित् कम आता हो तो खेद नहीं है और अधिक आता हो तो अभिमान नहीं, जिसे आत्मा का स्वभाव आया उसे सब कुछ आया, और उसने भगवान के समस्त प्रवचन का सार जान लिया।

आत्मानुभव के लिये पहले सुदृढ़ भूमिका की आवश्यकता होती है; वह सुदृढ़ भूमिका कौन-सी है ?—तो कहते हैं कि—"मैं शुद्ध ज्ञानस्वरूप हूँ—ऐसा निर्णय ही वह भूमिका है।" जिसप्रकार बैठे हुए पक्षी को आकाश में उड़ने के लिये नीचे कठिन भूमि की आवश्यकता है; उसीप्रकार चारित्र में गगनविहार करने के लिये पहले निर्णयरूप कठिन भूमि की आवश्यकता होती है। आत्मार्थी होकर, अनंत काल में नहीं की हुई ऐसी अपूर्व रीति से, अपूर्व पुरुषार्थ से आत्मा का निर्णय करना वह प्रथम भूमिका है; वही धर्मनगरी में प्रविष्ट होने का द्वार है; उस निर्णय में राग की रुचि नहीं, किन्तु चैतन्य का उत्साह है; वह जीव राग के भरोसे पर नहीं रुकता, किन्तु चैतन्यस्वभाव का विश्वास करके अंतर में आगे बढ़ता हुआ राग-द्वेष को तोड़ता जाता है; यह मुक्ति का उपाय है।

[ —इस लेख का शेषांश अगले अंक में दिया जायेगा।]

# सम्यक्त्व के उपाय सूचक

## प्रश्नोत्तर

[श्री प्रवचनसार गाथा ८० के प्रवचनों से]

(वीर सं० २४८४ श्रावण)

**प्रश्न**—जीव ने अनादिकाल से क्या प्राप्त नहीं किया है ?

**उत्तर**—जीव ने अनादिकाल से सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं किया है।

**प्रश्न**—वह सम्यग्दर्शन कैसे होता है ?

**उत्तर**—अरिहंत भगवान जैसे अपने शुद्ध आत्मा को जानने से सम्यग्दर्शन होता है।

**प्रश्न**—'आत्मा को जाने तभी अरिहंत को यथार्थरूप से जानता है'—ऐसा न कहकर 'जो अरिहंत को जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है'—ऐसा क्यों कहा ?

**उत्तर**—यथार्थ निश्चय से तो ऐसा ही है कि जो अपने आत्मा को जानता है, वही अरिहंत-सिद्ध आदि को यथार्थरूप से जानता है; किन्तु यहाँ आत्मा को जानने के प्रयत्न में जो जीव वर्त रहा है—ऐसे जीव को प्राथमिक भूमिका में विकल्प के समय कैसा ध्येय होता है, वह बतलाया है; और इसप्रकार प्रथम ध्येय का निर्णय करके फिर अंतर्मुख होकर अपने आत्मा को वैसा ही जानता है; उसका नाम सम्यग्दर्शन है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन के प्राथमिक अभ्यासवाले जीव की बात होने से, तथा वह जीव, अरिहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय को लक्ष में लेकर उसके द्वारा अपने आत्मा का निश्चय करता है, इसलिये ऐसा कहा है कि 'जो जीव अरिहंत को जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है।'

**प्रश्न**—अरिहंत को जाने बिना आत्मा को जाना जा सकता है या नहीं ?

**उत्तर**—नहीं; भगवान अरिहंतदेव सर्वज्ञ हैं; उन सर्वज्ञ के निर्णय बिना ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय नहीं हो सकता।

**प्रश्न**—अरिहंतदेव तो पर हैं; उनका हमें क्या काम ?

**उत्तर**—अरिहंतदेव पर हैं, यह बात सच है; किन्तु उन्हें आत्मा की पूर्णदशा प्रगट हो गई है; इसलिये उनका ज्ञान होने से इस आत्मा के पूर्णस्वभाव का भी ज्ञान होता है; क्योंकि निश्चय से

जैसा अरिहंत का आत्मा है, वैसा ही यह आत्मा है; उनमें कोई अंतर नहीं है। अरिहंत का निर्णय कहीं अरिहंत के लिये नहीं करना है किन्तु अपने ध्येय का निर्णय करते हुए उसमें अरिहंत के स्वरूप का निर्णय आ जाता है। जिसे अरिहंत के स्वरूप का निर्णय नहीं है, उसे वास्तव में अपने ध्येय का ही निर्णय नहीं है; अपने आत्मा का ही निर्णय नहीं है; इसलिये वह तो मिथ्यादृष्टि ही है।

**प्रश्न**—अरिहन्त को जानने से आत्मा का ज्ञान किस प्रकार होता है ?

**उत्तर**—सम्यक्त्वसन्मुख जीव को प्रथम ऐसी विचारणा जागृत होती है कि आत्मा की पूर्ण ज्ञान-आनन्ददशा को प्राप्त जीव कैसा होता है ? इसलिये विचारदशा से वह अरिहंतदेव का स्वरूप जानता है; उस स्वरूप को जानते ही उसके कुदेवादि का सेवन तो छूट गया है; ज्ञान-आनन्दस्वरूप से विपरीत ऐसे रागादि भावों में आदरबुद्धि छूटकर, स्वरूप में आदरबुद्धि हुई है और इसप्रकार ज्ञानानन्दस्वरूप की आदरबुद्धि के बल से विकल्पभूमिका से पृथक् होकर, अतीन्द्रिय स्वभाव की सन्मुखता से अपने आत्मा को जानता है। इसप्रकार अंतर्मुख होकर जिसने आत्मा को जाना, उसी ने सर्वज्ञ की सच्ची स्तुति की है; इसलिये उसी ने वास्तव में केवली भगवान को जाना है। (देखिये, समयसार गाथा ३१) अरिहंत के स्वरूप की विचारधारा द्वारा निजस्वरूप का निर्णय करके जो अंतर्मुखस्वरूप में उन्मुख हो गया, उसे आत्मा का ज्ञान हुआ है।—इसप्रकार अरिहंत को जानने से आत्मा का ज्ञान होता है।

**प्रश्न**—सम्यग्दृष्टि मेंढ़क को अरिहंत का निर्णय किस प्रकार होता है ?

**उत्तर**—सम्यग्दृष्टि मेंढ़क को भी अरिहंत के स्वरूप का निर्णय अवश्य हो गया है; 'अरिहंत' ऐसे चार अक्षरों का ज्ञान उसे भले ही न हो, किन्तु अपने अंतर्वेदन में अरिहंत के स्वरूप का निर्णय भी उसे आ ही गया है। मैं ज्ञान हूँ, राग या शरीर मैं नहीं हूँ; अंतर में आनन्द का वेदन होता है, वह उपादेय है; राग का वेदन हेय है;—इसप्रकार जहाँ अपने वेदन से निर्णय किया, वहाँ उस मेंढ़क को ऐसा भी निर्णय हो गया कि ऐसे ज्ञान एवं आनन्द की पूर्ण दशा विकसित हो जाये, वही मुझे उपादेय है; अरिहंत के स्वरूप से विपरीत ऐसे रागादि मुझे उपादेय नहीं हैं। इसप्रकार अरिहंत का यथावत् स्वरूप उसके अभिप्राय में आ गया है तथा उससे विपरीत अभिप्राय का उसके अभाव है।

**प्रश्न**—अरिहंत के निर्णय में 'तत्त्वार्थश्रद्धान' किसप्रकार आ जाता है ?

**उत्तर**—अरिहंत भगवान को पूर्णज्ञान-आनन्द प्रगट हो गये हैं; रागादि सर्वथा छूट गये हैं;

पहले उन्हें भी रागादि थे; किन्तु फिर भेदज्ञान द्वारा शुद्ध आत्मा को ही उपादेय जानकर तथा रागादि को हेय समझकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा उन्होंने अरिहंतपद साध लिया; जिसने अरिहंत के ऐसे स्वरूप का निर्णय किया, उसकी श्रद्धा में ऐसा भी आ गया कि मेरा जीवस्वभाव अरिहंत भगवान जैसा है; उन्हें जो पूर्ण ज्ञानानन्ददशा प्रगट हुई, वही मुझे उपादेय है अर्थात् मोक्षतत्त्व ही उपादेय है; उनके जो रागादि छूट गये, वे मुझे भी छोड़ने योग्य हैं; इसलिये आस्रव-बंधतत्त्व हेय हैं; मोक्षदशा प्रगट करने का तथा आस्रव-बंध के नाश का उपाय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, वे मुझे करनेयोग्य हैं अर्थात् संवर-निर्जरा करनेयोग्य हैं;—इसप्रकार अरिहंत के निर्णय में तत्त्वार्थश्रद्धान का भी समावेश है ही।

**प्रश्न**—प्रथम आत्मा को जानना चाहिये अथवा अरिहंत को ?

**उत्तर**—दो में से एक का यथार्थ ज्ञान करते हुए दूसरे का ज्ञान हो ही जाता है, क्योंकि परमार्थतः आत्मा और अरिहंत के स्वरूप में कोई अंतर नहीं है। आत्मा का स्वरूप न जाननेवाला अरिहंत के स्वरूप को भी नहीं जानता, और अरिहंत के वास्तविक स्वरूप को (द्रव्य-गुण-पर्याय से) जाननेवाला अपने आत्मा को भी अवश्य जानता ही है। इसप्रकार अरिहंत के स्वरूप का ज्ञान और अपने आत्मा का ज्ञान-इन दोनों की सन्धि समझना।

**प्रश्न**—आत्मा की प्राप्ति का उपाय क्या है ?

**उत्तर**—आत्मानुभूतिरूप सम्यग्दर्शन द्वारा ही अनंत काल में प्राप्त नहीं हुई ऐसी आत्मप्राप्ति होती है।

**प्रश्न**—उस शुद्धात्म-अनुभूति के लिये क्या करना चाहिये ?

**उत्तर**—प्रथम तो अरिहंतदेव के आत्मा को द्रव्य से, गुण से और पर्याय से जानकर, वैसा ही स्वभाववाले अपने आत्मा को जानना चाहिये; और इसप्रकार आत्मा को जानकर द्रव्य-गुण-पर्याय के भेदों का विचार छोड़कर, पर्याय को अंतर्मुख करने से विकल्पातीत ऐसी शुद्ध आत्मा की अनुभूति होती है; यही सम्यग्दर्शन की रीति है।

**प्रश्न**—किस जीव को सम्यग्दर्शन के आँगन में आया कहा जायेगा ?

**उत्तर**—अरिहंत समान अपने आत्मा को जानकर उसके मनन की धारा में जो जीव अप्रतिहतरूप से वर्तता है, उसे सम्यग्दर्शन के आँगन में आया कहा जाता है।

**प्रश्न**—आँगन में आने के पश्चात् फिर भीतर प्रवेश कैसे करना चाहिये ?

**उत्तर**—अरिहंत समान अपने जिस स्वरूप का निर्णय विचारधारा से किया है, उस स्वरूप में अंतर्मुख होने के बारम्बार अतिदृढ़ अभ्यास द्वारा पर्याय को उसमें लीन (अभेद-एकाकार) करके अनुभव करना ही स्वभाव में प्रवेश करने की रीति है; उस अनुभव की निर्विकल्पदशा में द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद का विचार भी नहीं होता; वहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय की अभेदता के सहज आनन्द का वेदन होता है।

**प्रश्न**—सम्यग्दर्शन के इसी उपाय को समयसार की भाषा में कहना हो तो ?

**उत्तर**—समयसार के पहले ही कलश में—'स्वानुभूत्या चकासते' कहकर शुद्धात्मा की प्राप्ति का उपाय बतलाया है। आत्मा अपनी स्वानुभूति से ही प्रकाशमान है; राग द्वारा उसका अनुभव नहीं होता, किन्तु अंतर्मुख होने पर स्वानुभव द्वारा ही वह अनुभव में आता है।

अथवा—'भूयत्थमस्सिदो खलु सम्मदिट्ठी हवइ जीवो'—इसमें सम्यग्दर्शन की रीति बतलाते हुए कुन्दकुन्दस्वामी स्पष्ट कहते हैं कि भूतार्थस्वभाव का आश्रय करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि है। 'भूतार्थस्वभाव का आश्रय' कहो, 'स्वानुभूति' कहो, अथवा 'अरिहंत समान अपने आत्मा का ज्ञान' कहो,—तीनों का एक ही भाव है और वही सम्यग्दर्शन का उपाय है।

**प्रश्न**—आगम का विधान क्या है ? संतों का आदेश क्या है ?

**उत्तर**—अंतर्मुख होकर शुद्धात्मा की अनुभूति करना ही आगम का विधान हैं; वही संतों का आदेश है; क्योंकि यह ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयं अंतर्मुख होकर ज्ञानस्वभाव से परिणमित हो, वही मोक्ष का हेतु है; इसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ (पाप या पुण्य) है, वह बंध का हेतु है; इसलिये ज्ञानस्वरूप होने का अर्थात् शुद्ध आत्मा की अनुभूति करने का विधान आगम में है; वही आगम का और संतों का आदेश है। जो जीव, राग को कर्तव्य मानता है अथवा उसे मोक्ष का साधन मानता है, उसे तो अभी आगम के विधान की या संतों के आदेश की खबर नहीं है।

**प्रश्न**—मोक्षतत्त्व की प्रतीति करनेवाला सम्यग्दृष्टि किस प्रकार है ?

**उत्तर**—जिसने आस्रव-बंधरूप विकार से रहित ऐसे परिपूर्ण मोक्षतत्त्व की प्रतीति की, उसे विकार रहित ऐसा शुद्ध आत्मस्वभाव प्रतीति में आ ही जाता है; तथा उसके मिथ्यात्व का छेदन होकर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है; इसलिये मोक्षतत्त्व की प्रतीति करनेवाला सम्यग्दृष्टि है। मोक्षतत्त्व की सच्ची प्रतीति तो आत्मस्वभाव की सन्मुखता से ही होती है; आत्मस्वभाव की सन्मुखता के बिना मोक्षादि तत्त्वों की यथार्थ प्रतीति नहीं होती।

अरिहंतदेव की पहिचान कहो, या मोक्षतत्त्व की प्रतीति कहो; वह पहिचान या प्रतीति करनेवाले को आत्मस्वभाव में अंतर्मुखता होकर सम्यग्दर्शन होता है। इसलिये अरिहंत का स्वरूप यथार्थ जानना चाहिये।

**प्रश्न**—हमारा मस्तिष्क छोटा-सा है, उसमें अरिहंत भगवान की इतनी महान बात कैसे जम सकती है ?

**उत्तर**—अरे भाई ! तेरा आत्मा छोटा नहीं है; अरिहंत भगवान जितनी महान सामर्थ्यवाला तेरा आत्मा है; तेरे ज्ञान का मस्तिष्क अर्थात् तेरे ज्ञान की शक्ति इतनी महान है कि अरिहंत भगवान का भी वह अपने में ज्ञेयरूप से समावेश कर ले; इसलिये अपने ऐसे ज्ञान सामर्थ्य की प्रतीति करके अंतर्मुख हो; ऐसा करने से तुझे अरिहंत समान अपना आत्मा स्वानुभव से ज्ञात होगा। यह कार्य तुझसे हो सके ऐसा है।

**प्रश्न**—सम्यग्दर्शन सक्रिय है या निष्क्रिय ?

**उत्तर**—विकल्प करनेरूप क्रिया का उसमें अभाव होने से वह निष्क्रिय है और अपने स्वरूप की प्रतीति करनेरूप क्रिया उसमें होने से वह सक्रिय है।

**प्रश्न**—मोहमल को शीघ्र नष्ट करने का क्या उपाय है ?

**उत्तर**—जैसे अरिहंत परमात्मा हैं, वैसा ही मेरा आत्मा है—ऐसी परमार्थदृष्टि से सम्यग्दर्शन प्रगट करना, सो मोह के नाश का मूल उपाय है।

**प्रश्न**—जिसके अपने आत्मा में मोह के नाश का ऐसा उपाय प्रगट हुआ हो, उसे क्या होता है ?

**उत्तर**—उसे ऐसी निःशंकता हो जाती है कि मैंने मोह के नाश का उपाय प्राप्त कर लिया है; अब मैं अल्पकाल में ही मोह को निर्मूल कर दूँगा। मोह के नाश का उपाय अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट होते ही आत्मानन्द के वेदनसहित जीव के अंतर से ऐसी ध्वनि प्रगट होने लगती है कि बस, सिद्धपद का मार्ग हाथ आ गया है... संसार का अंत आ गया है... अनादि दुःख के समुद्र से निकलकर अब मैं सुखसागर में पहुँच गया हूँ।

**प्रश्न**—अपने सम्यग्दर्शन की स्वयं अपने को खबर पड़ती है ?

**उत्तर**—हाँ; अंतर में अतीन्द्रिय आनन्द के आह्लादपूर्वक-स्वसंवेदन द्वारा अपने को निस्सन्देहरूप से अपने सम्यग्दर्शन की प्रतीति हो जाती है।

# आत्मार्थी क्या करता है ?

['विश्रांति विला' के वास्तु प्रसंग पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचन से]

(वीर संवत् २४८३, आश्विन शुक्ला दूजा)

***पंचास्तिकाय गाथा १०३-४***

जिसे छह द्रव्यों का यथार्थ स्वरूप जानने की गरज है, आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझने की जिज्ञासा है, आत्मा का हित हैसे हो—यह जानना चाहता है, उसके लिये यह बात है।

भगवान सर्वज्ञदेव की वाणी में वह प्रवचन है; उसमें काल सहित पाँच अस्तिकाय का अर्थात् छह द्रव्य का स्वरूप बतलाया है। ऐसे छह द्रव्य का स्वरूप जानकर... किसप्रकार ?—तो कहते हैं कि आत्मा के अर्थीरूप से जानकर ऐसा निर्णय करना चाहिये कि इन छह द्रव्यों में से विशुद्ध चैतन्यस्वरूप जीव ही मैं हूँ; ऐसा मेरा स्वरूप ही मेरा निवास धाम एवं विश्रांति स्थान है।

अरे, अनंत काल से मैंने अपने स्वरूप में वास नहीं किया, किन्तु पर में अपना वास मानकर बाहर भटकता रहा। अब स्व-गृह में वास करके स्वरूप में विश्रांति लूँ—इसप्रकार आत्मा का गरजी होकर जो समझना चाहता है, उसे इस पंचास्तिकाय के श्रवण द्वारा ऐसा निर्णय करना चाहिये कि मैं विशुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ; अपने ज्ञातादृष्टा आनन्दमय स्वभाव से परिपूर्ण हूँ; अनादिकाल से मैं ऐसा ही था किन्तु अभी तक उसका निर्णय नहीं किया था; अब वह अपूर्व निर्णय करके, उस निर्णयकाल में, अपनी पर्याय में क्षणिक विकार होने पर भी, उसी काल उस विकार से भिन्नरूप अपने विशुद्ध चैतन्यस्वभाव का अनुभव करता हुआ, विकार की संतति को छोड़ता है, इसलिये उसका राग जीर्ण होता जाता है और वह पूर्व बन्ध छूटता जाता है। इसप्रकार वह अशांत ऐसे दुःख से परिमुक्त होता है और स्वरूप में विश्रान्त होकर शांति का अनुभव करता है।

भाई! तुझे आत्मा की गरज हो, आत्मप्राप्ति की भावना हो तो प्रथम ऐसा निर्णय कर कि मैं विशुद्ध चैतन्यस्वभाव हूँ। विशुद्ध ज्ञान-दर्शन-आनन्द के अतिरिक्त अन्य कुछ मेरा स्वरूप नहीं है। ऐसे स्वरूप का निर्णय करके उस ओर उन्मुख होने पर रागादि की वृत्ति अत्यन्त शिथिल हो जाती है और आत्मा कर्म बन्ध से मुक्त होता जाता है। यही दुःख से परिमुक्त होने का उपाय है।

आत्मा का यथार्थ स्वरूप तो विशुद्ध चैतन्यस्वभाव है; तदुपरान्त जो विकार दिखाई देता है

वह तो आरोपित है, वह मूलस्वरूप नहीं है। उस आरोपित भाव से अपने मूलस्वरूप को भिन्न जानते हुए, उस भेदज्ञानज्योति द्वारा जो राग-द्वेष परिणति को छोड़कर विशुद्ध चैतन्यस्वरूप को ग्रहण करता है, उस जीव के रागादि जीर्ण होते जाते हैं। जिसप्रकार जघन्य चिकनाहटरूप परिणमित होने की तैयारीवाला परमाणु भविष्यकालीन बन्धपर्याय से पराङ्मुख वर्तता है अर्थात् उससे छूट जाता है, उसीप्रकार विशुद्ध चैतन्यस्वरूप को ग्रहण करके जो जीव, रागादि की चिकनाहट से पराङ्मुख वर्तता है, वह भी पूर्व बन्ध से छूटता जाता है। और इसप्रकार दुःख से परिमुक्त होता है।

जबतक जीव ने अपने विशुद्ध चैतन्यस्वभाव का निर्णय नहीं किया था, तब तक वह कर्मबन्ध की परम्परा के कारणरूप ऐसी राग-द्वेष परिणति में ही वर्तता था, उससमय परसमयरूप काल था। और जब अपने विशुद्ध चैतन्यस्वरूप का निर्णय किया तब, विकार होने पर भी विवेक ज्योति द्वारा उससे भिन्न विशुद्ध चैतन्य को जानता हुआ उसी में वर्तता है—वह स्वसमयरूप काल है, वही दीपावली है; उस काल रागादि से पराङ्मुख वर्तता हुआ तथा स्वरूप में स्थिर होता हुआ वह जीव, दुःख से परिमुक्त होता है।

## [ पंचास्तिकाय गाथा १०४ ]

इस शास्त्र में तो पाँच अस्तिकाय तथा छठवाँ काल—इसप्रकार छहों द्रव्यों का वर्णन किया है; तथापि आचार्य-भगवान कहते हैं कि इस शास्त्र के अर्थभूत शुद्ध आत्मा है। दुःखों से मुक्त होने का अर्थी प्रथम तो इस शास्त्र के अर्थभूत शुद्ध चैतन्यस्वभाववाले अपने आत्मा को जानता है। देखो, यह शुद्ध चैतन्यस्वभाववाला आत्मा ही शास्त्र के अर्थभूत अर्थात् प्रयोजनभूत है। प्रथम ऐसे प्रयोजनभूत आत्मा को जानकर, फिर मोक्षार्थी जीव उसी के अनुसरण का उद्यम करता है और ऐसे उद्यम द्वारा उसके दर्शनमोह का क्षय होता है। देखो, उद्यम द्वारा कर्म का नाश होने को कहा है, अर्थात् उपादान की स्वतंत्रता से कहा, किन्तु 'कर्म टले तो उद्यम हो'—ऐसा निमित्त की ओर से नहीं लिया। उद्यम करने में आत्मा की स्वतंत्रता है; उद्यम करे, वहाँ प्रतिबन्धकरूप कर्म का अभाव हुए बिना रहता ही नहीं—ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक मेल है। यहाँ तो आचार्य-भगवान स्पष्ट कहते हैं कि छहों द्रव्यों के वर्णन में अर्थभूत-सारभूत-प्रयोजनभूत तो विशुद्ध चैतन्यस्वभावी आत्मा ही है; इसलिये मोक्षार्थी को प्रथम अपने विशुद्ध चैतन्यस्वभाव को जानना चाहिये; उसे जानकर फिर उसके अनुसरण का उद्यम करना चाहिये।

समयसार में भी आचार्यदेव ने ऐसा ही कहा है कि—

**एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो।**
**अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण॥१८॥**

देखो, यह मोक्ष का उपाय! हे मोक्षार्थी! इस शास्त्र के अर्थभूत ऐसे शुद्ध चैतन्य स्वभाववाले आत्मा को प्रथम तो तू जान... और उसी के अनुसरण का उद्यम कर।—ऐसे उद्यम द्वारा तुझे शुद्ध सम्यग्दर्शन की प्राप्ति और दर्शनमोह का नाश होगा। शुद्ध चैतन्यस्वरूप के परिचय द्वारा तेरी ज्ञानज्योति प्रगट हो जायेगी और राग-द्वेष छूट जायेंगे। ऐसा होने से कर्मबन्ध की परम्परा का विनाश हो जायेगा और बन्ध के अभाव से मुक्तरूप तेरा आत्मा सदैव स्वरूप स्वरूप से प्रतापवन्त रहेगा। यही दु:ख से छूटकर परम आनन्द की प्राप्ति का उपाय है। स्वद्रव्य के परिचय से ही मोह का क्षय होता है; उसमें परद्रव्य के परिचय की आवश्यकता नहीं होती। स्वरूप से च्युत होकर जितना-जितना परद्रव्य का परिचय है, वह सब बन्ध का कारण है और शुद्ध चैतन्यस्वरूप स्वद्रव्य का परिचय ही मोक्ष का कारण है। ऐसा दृढ़ निर्णय किये बिना वीर्य का वेग स्वोन्मुख नहीं होता; इसलिये शास्त्र के अर्थभूत ऐसे शुद्ध आत्मा को जानकर मोक्षार्थी को उद्यमपूर्वक उसी का अनुसरण करना चाहिये। निमित्त का अथवा रागादि का नहीं किन्तु शुद्ध आत्मा का ही अनुसरण करना चाहिये। ऐसा करने से दृष्टिमोह का क्षय होता है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप के परिचय द्वारा ज्ञानज्योति प्रगट होती है और अज्ञानांधकार नष्ट होता है; तथा उस शुद्ध चैतन्यस्वरूप के परिचय से—उसमें लीनता से राग-द्वेष शांत हो जाते हैं; इसप्रकार बन्ध का अभाव होकर अपने स्वरूप में स्थिररूप से आत्मा मुक्ति में सदैव प्रतापवन्त वर्तता है तथा परम आनन्द से शोभायमान होता है।

—ऐसा इस शास्त्र का सार तथा उसके अभ्यास का फल है।

— यह है —

# ज्ञानी सन्तों का आदेश

हे जीव! मैं ज्ञायक हूँ—ऐसा निर्णय करके अंतर में उसकी खोज कर!

और जबतक ज्ञायकस्वभाव का पता न चले, तबतक अंतर में सच्ची लगनपूर्वक उसी का प्रयत्न किया कर।

चैतन्यनिधि अमृत का सागर यहाँ तेरे पास ही भरा पड़ा है, उपयोग को अंतर्मुख करे, इतनी ही देर है; उपयोग को अंतरोन्मुख करते ही तुझे अपने आत्मा में ऐसे आनन्द का अनुभव होगा जो पहले कभी न हुआ हो।

सब कुछ तुझमें विद्यमान है; कहीं बाहर ढूँढ़ने के लिये नहीं जाना है।

'मेरा किसी से कोई सम्बन्ध नहीं है; मैं तो ज्ञायक हूँ; मेरे ज्ञायकपने में राग का भी अभाव है;'—इसप्रकार सबके साथ सम्बन्ध तोड़कर, अंतर में एक ज्ञायक के साथ ही सम्बन्ध जोड़ना चाहिये; ज्ञायक ही मैं हूँ—इसप्रकार अंतर में शांतिपूर्वक एकाग्र होकर ज्ञायक का अनुभव करना चाहिये। उस अनुभव में आनन्दस्वरूप परमात्मतत्त्व प्रगट होता है।

—पूज्य गुरुदेव

# है और नहीं है

- मोक्षमार्ग में व्यवहार का अस्तित्व है, किन्तु उसका आश्रय नहीं है।
- साधक की पर्याय में राग होता है, किन्तु साधकपना राग के आश्रित नहीं है।
- धर्मी की भूमिकानुसार राग होता है किंतु राग स्वयं धर्म नहीं है।
- जगत में जड़कर्म हैं, किन्तु आत्मा में जड़कर्म नहीं हैं।
- निमित्त में निमित्त है, किन्तु उपादान में निमित्त नहीं है।
- धर्मी को शुभरागरूप व्यवहार होता है, किन्तु वे उस व्यवहार के आश्रय से लाभ नहीं मानते।
- जिसके सच्चा व्यवहार है, उसे व्यवहार की रुचि नहीं है।
- जिसे व्यवहार की रुचि है, उसके सच्चा व्यवहार नहीं होता।
- जिसे दु:ख का यथार्थ ज्ञान हो, उसे अकेला दु:ख नहीं होता।
- जिसे अकेला दु:ख है, उसे दु:ख का यथार्थ ज्ञान नहीं होता।
- जो सच्चा पुरुषार्थी है, उसे अनंतभव की शंका नहीं होती।
- जिसे अनंतभव की शंका है, उसे सच्चा पुरुषार्थ नहीं है।
- जिसे मिथ्यात्व की सच्ची पहिचान है, उसे अपने में मिथ्यात्व नहीं होता।
- जिसके अपने में मिथ्यात्व है, उसे मिथ्यात्व के स्वरूप की सच्ची पहिचान नहीं है।
- जो सर्वज्ञ को जानता है, उसके अनंतभव सर्वज्ञ ने नहीं देखे हैं।

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

# अवश्य स्वाध्याय करें

| | | | |
|---|---|---|---|
| पंचास्तिकाय | ४ ॥) | ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव | २ ॥) |
| मूल में भूल | ।।।) | मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द | ५) |
| श्री मुक्तिमार्ग | ॥=) | सम्यग्दर्शन (दूसरी आवृत्ति) | १ ॥= |
| श्री अनुभवप्रकाश | ॥) | द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा) | २) |
| श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह | ।।।) | जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द | १ ।=) |
| समयसार प्रवचन भाग २ | ५ ।) | | |
| समयसार प्रवचन भाग ३ | ४ ॥) | भेदविज्ञानसार | २) |
| प्रवचनसार | ५) | अध्यात्मपाठसंग्रह | ५) |
| अष्टपाहुड़ | ३) | समाधितन्त्र | २ ।=) |
| चिद्विलास | १=) | समयसार पद्यानुवाद | ।) |
| आत्मावलोकन | १) | निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ? | =) |
| मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र० | १ ।=) | स्तोत्रत्रयी | ॥) |
| द्वितीय भाग | २) | लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका | =) |
| जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र० | ॥-) | 'आत्मधर्म मासिक' लवाजम- | ३) |
| द्वितीय भाग | ॥-) | आत्मधर्म फाइलें १-३-५-६-७-८-१०-११-१२-१३ वर्ष | ३ ।।।) |
| तृतीय भाग | ॥-) | | |
| जैन बालपोथी | ।) | शासन प्रभाव | =) |

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)


मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।